चारुमित्रा

[चार अभिनव मौलिक एकांकी नाटक]

∴

श्री रामकुमार वर्मा,
एम० ए०, पी० एच-डी०
[प्रयाग विश्वविद्यालय]

∴

साधना-सदन
प्रयाग
किंग्सवे, दिल्ली : चेतगंज, काशी

दो रुपये

प्रकाशक
साधना-सदन,
इलाहाबाद ।

प्रथम सस्करण
१ जून, १९४२ : १०००
मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम-टेवुल प्रेस,
बनारस । २६५-४२

श्री अमरनाथ झा

नाटकों की रचना में मेरे

पथ-निर्देशक

पं० अमरनाथ झा,

एम्. ए., एफ्. आर. एस. एल.,

वाइस-चांसलर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

को

सादर समर्पित ।

—रामकुमार

स्वगत्

'चारुमित्रा' मेरे एकांकी नाटकों का तीसरा संग्रह है। 'पृथ्वीराज की आँखें' और 'रेशमी टाई' की परिस्थितियों से निकलकर मैं आगे चल रहा हूँ, इस गति का अनुभव तो मुझे हो रहा है किंतु दिशा का निर्णय आपके पास है।

यह संग्रह इतने शीघ्र न निकलता यदि इसमें मेरे छात्रों का सहयोग न होता। यूनिवर्सिटी के प्रत्येक उत्सव पर उनकी ओर से नाटकों की माँग होती है और मुझे नाटक लिखना ही पड़ता है। इस संग्रह के दो नाटक तो उनके द्वारा खेले भी जा चुके हैं। दो नाटक नये हैं। इन दोनों नये नाटकों के लिखाने का श्रेय मेरे बंधु श्री सुमनजी को है जिनके अनुरोध की रक्षा करने में मुझे विशेष सुख मिलता है। विनिमय के सिद्धांत से उन्होंने मेरा अनुरोध मानकर इस पुस्तक की भूमिका भी लिख दी है, जिसके लिए मै उनके प्रति आभारी हूँ।

मेरे गुरु डा० धीरेन्द्र वर्मा ने मेरे नाटकों का अभिनय देखकर मुझे इस क्षेत्र में, अपनी स्वीकृति के साथ, बढ़ने की आज्ञा दी है। उनकी शक्ति सदैव मेरे साथ है।

इन नाटकों को पढ़कर क्या आप अपनी सम्मति मुझे देंगे?

हिंदी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
१०-५-४२

रामकुमार वर्मा

भूमिका

रंगमंच के अभाव में हिंदी नाट्य-साहित्य की धारा प्रायः सूख चली थी, पर इधर 'एकांकी 'नाटक के रूप में वह फिर तरंगित होने लगी है। रंगमंच का अभाव अभी दूर नहीं हुआ है, पर हमारे नवीन नाटककार इससे निराश नहीं हैं। उन्हें आशा है कि एकांकी नाटक सामयिक माँग पूरी करते हैं, इसलिए पर्याप्त संख्या हो जाने पर उनके अनुकूल रंगमंच की अवतारणा भी हो जायगी। इधर युनिवर्सिटियों और कालेजों में साल में एकाध बार एकांकी नाटक खेले जाने की प्रथा चल पड़ी है, ,परंतु अभी तक सर्वसाधारण मे उनका क्षेत्र नहीं तैयार हो सका है।

एकांकी नाटकों की परंपरा बहुत प्राचीन है। युरोप और एशिया में किसी न किसी रूप में इनकी स्थिति प्राचीनकाल से चली आ रही है। संस्कृत साहित्य में पात्र और कथानक के आधार पर रूपक के दस भेद किए गये है। इनमे से पांच एकांकी होते हैं, यथा व्यायोग (युद्ध के दृश्य, वीर रस-प्रधान), अंक (स्त्रियों का विलाप, करुणरस-प्रधान, उदाहरण, शर्मिष्ठायति), प्रहसन (हास्य-प्रधान, उदाहरण, कंदर्पकेलि तथा धूर्तचरित्र), भाण (एक ही पात्र प्रश्न करता है तथा उत्तर देता है, वीर तथा शृंगार रस-प्रधान, उदाहरण, लीलामधुकर), तथा वीथी (शृंगार रस-प्रधान, उदाहरण मालतिका)। मालूम पड़ता है कि प्रारम्भ मे इन एकांकी नाटकों का प्रचार था, पर कालांतर में ५ या इससे अधिक अंकवाले नाटको का प्राधान्य हो गया और एकांकी नाटकों

की परम्परा लुप्त हो गई। हिंदी में उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के प्रभाव में ५ या इससे अधिक अंकवाले नाटक लिखे गये अथवा अनूदित हुए। भारतेंदु-युग में पारसी रंगमंच के प्रभाव में ३ अंक के नाटक लिखने की प्रथा चल पड़ी। अभी कुछ समय पूर्व तक इसी प्रकार के नाटकों का चलन था, पर पिछले दस-बारह वर्षों से एकांकी नाटकों का बाज़ार गर्म हो रहा है। युरोप में भी एकांकी नाटकों का प्रादुर्भाव, वर्तमान रूप में, विगत महासमर से कुछ समय पूर्व हुआ था। अधिक से अधिक उसकी आयु ४० वर्षों की है। पर इतने ही समय में एकांकी नाटक ने वहाँ अभूतपूर्व उन्नति कर ली है। गति की दृष्टि से वह नाट्य-साहित्य में सबसे आगे है। युरोप के प्राय. प्रत्येक देश के साहित्य में उसने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। फ्रांस, रूस, अमेरिका और इंग्लैंड में उसकी विजय-यात्रा अप्रतिहत वेग से चली है। आज, जब जीवन एक भागदौड़ के समान हो गया है, दर्शकों के लिए अधिक समय एक जगह जमकर बैठना कठिन होगया है। फिर एकांकी नाटकों में पात्रों की संख्या अल्प होने तथा साधारण नगरों में भी उनका खेलना संभव होने के कारण भी वे लोकप्रिय हो गए हैं। इनके अभिनय में अधिक समय नहीं लगता; पात्र थोड़े अतः सहज लभ्य हैं और दृश्यों की तैयारी भी उतनी कठिन नहीं।

श्री रामकुमार वर्मा हिंदी में एकांकी नाटक के जन्मदाताओं में हैं। उनका सबसे पहला एकांकी नाटक 'बादल' है, जो सन १९३० में लिखा गया था। इसे एकांकी नाटक की अपेक्षा अभिनयात्मक गद्य-काव्य कहना अधिक उचित होगा। इसमें

कथानक का प्रायः अभाव है, जो एकांकी नाटक की रीढ़ है। इसके बाद के उनके नाटकों में एकांकी नाटकों के सब गुण क्रमशः विकसित होते गये हैं। उनके छः एकांकी नाटकों का प्रथम संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' १९३६ में निकला। पांच बरस बाद, १९४१ में, उनके पाँच एकांकी नाटको का दूसरा संग्रह 'रेशमी टाई' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के नाटक प्रथम संग्रह की अपेक्षा क्या भाषा, क्या कथानक और क्या रचना-कौशल, सभी दृष्टियों से प्रथम संग्रह के नाटकों की अपेक्षा बहुत उन्नत हैं। यह 'चारु-मित्रा' उनके एकांकी नाटकों का तीसरा संग्रह है। इसमें १९४१-४२ के बीच लिखे गए उनके चार एकांकी नाटक हैं। पाठक देखेंगे कि इन एकांकी नाटकों की रचना में रामकुमारजी की लेखनी पहले से अधिक निखर उठी है और उसने बहुत ऊँची उड़ान भरी है। इस संग्रह में उनका विगत महीने में लिखा गया एक दार्शनिक एकांकी नाटक 'अंधकार' भी सम्मिलित है। मैं इसे हिंदी का ही नहीं, वरं भारतीय साहित्य का एक सर्वश्रेष्ठ एकांकी नाटक मानता हूँ।

एकांकी नाटक की रूपरेखा श्रीरामकुमारजी ने अपने प्रथम संग्रह की भूमिका में बहुत थोड़े से शब्दों में स्पष्ट कर दी है। यह बतलाने के बाद कि एकांकी नाटक में भी नाटक की भाँति आंतरिक अथवा बाह्य संघर्ष सब से प्रधान वस्तु होती है, उन्होंने अन्य प्रकार के नाटकों से एकांकी नाटक की विशेषता का ज़िक्र किया है। एकांकी नाटक में एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा (क्लाइमेक्स) तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान

प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते हैं, जिनका सम्बन्ध नाटक की घटना से संपूर्णतया जुड़ा रहता है। वहाँ केवल मनोरंजन के लिए अनावश्यक पात्र की गुंजाइश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की रूप-रेखा पत्थर पर खिची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की तरह खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमे लता के समान फैलने की उच्छृङ्खलता नही। घटना के प्रत्येक भाग का संबंध मनुष्य-शरीर के हाथ-पैरो के समान है, जिसमें अनुपात-विशेष से रचना होकर सौंदर्य की सृष्टि होती है। कथावस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है और उसमें वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है। कथावस्तु का प्रारंभ, विकास, चरमसीमा और अंत बिना किसी शैथिल्य के स्वाभाविकता के साथ हो जाता है।

एकांकी नाटक की कथावस्तु कहाँ से ली जानी चाहिए, इस पर रामकुमारजी ने अपने दूसरे संग्रह की भूमिका में विस्तार से लिखा है। उन्होंने इस बात पर विशेष ज़ोर दिया है और सही ज़ोर दिया है कि नाटक की कथावस्तु बाहर से लेने की आवश्यकता नही। हमारे जीवन के चारों ओर घटनाओ का अविराम प्रवाह बहता रहता है, जिनमें प्राणों के तत्त्वों का अत्यंत रहस्यमय संकेत रहता है। नाटककार को चाहिए वह इन घटनाओं को सजीव दृष्टि से देखकर उनकी व्यंजना में कथावस्तु का निर्माण कर ले। उसका कथा-चातुर्य केवल इस बात में है कि घटनाओं को अधिक से अधिक

घनीभूत कर उन्हें कार्यकारण की मनोरंजक श्रृंखला में कस दे। उसके कला-प्रवाह में प्रत्येक दिन हमारे जीवन से गुँथा हुआ पर हमारे लिए विस्मृत और अदृश्य एक संसार को प्रत्यक्ष करता चलता है। यह असत् नहीं होता, इसमें जीवन धीरे-धीरे अपने अवगुण्ठन खोलता है जैसे कली प्रत्येक अँगड़ाई के साथ अपने रहस्यों को लुटाती, अपने को खोलती, मुस्कराती और मनोरम होती दूसरों को भी जीवन के प्रेमल सत्यों से परिचित करती है। जीवन का यह उद्घाटन कला के प्रकाश मे किंचित् रंगीन है; उसमें शारदीया की चाँदनी है, ज्येष्ठ की दोपहरी की लू नही।

यहाँ पर घटनाओं के चुनाव के सम्बन्ध में रामकुमारजी ने अपने समकालिक प्रगतिशील लेखकों से अपना मत-भेद प्रकट किया है। उनका यह आरोप है कि प्रगतिशील लेखकों की दृष्टि केवल जीवन की कुरूपता की ओर जाती है। हमारा प्रगतिशील लेखक अश्लीलता के किनारे बैठकर साहित्य के नाम पर अपनी वासनाओं का नग्न नृत्य देखना चाहता है; उनके विचार में जब रंगमंच के थोड़े से समय में जीवन का चित्रण करना होता है तब हमें जीवन की ऐसी घटनाएँ चुननी चाहिएँ जो हृदय की सहानुभूति प्राप्त कर सके या हमारी रागात्मक प्रवृत्ति मे कुछ चेतना ला सकें। इस प्रकार वह रंगमंच पर स्वाभाविकता के पोषक होते हुए भी उसपर जीवन के अभ्युदयशील क्षणों अथवा भावो के चित्रण के पक्षपाती हैं।

प्रगतिशील लेखकों से रामकुमारजी को एक दूसरी शिकायत यह है कि वे मनुष्य को भूलकर 'वर्ग' के पीछे पड़ जाते हैं। वे एक प्रतिहिंसा लेकर साहित्य का निर्माण करते हैं उनका विश्वास है

कि साहित्य की कोई रचना यदि प्रतिहिंसा लेकर हुई तो वह सत्य और सौंदर्य से बहुत दूर होगी। इसलिए हमें वर्ग या समूह के पर्याय व्यक्तियों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। उनकी यह धारणा युरोप के १९ वीं शताब्दी के रोमांटिक लेखकों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। वे जीवन के बाह्य और सामयिक द्वंद्वों की अपेक्षा मानव-हृदय के शाश्वत प्रश्नों की ओर इंगित करना ज़्यादा पसंद करते है।

रामकुमारजी के सभी एकाकी नाटक मनोवैज्ञानिक है, जिनमे अंतर्द्वंद्व का चित्रण प्रमुख रहता है। वह अपने नाटकों का आरम्भ किसी ऐसी स्थिति से करते है जिसमे विरोध की तेजस्वी शक्तियाँ निहित रहती है। जैसे-जैसे कथानक क्षिप्रगति से अपनी चरम सीमा की ओर बढ़ता है, उनके पात्रों का अंतर्द्वंद्व दिन के प्रकाश की भाँति प्रत्यक्ष होता जाता है, वार्त्तालाप का एक-एक शब्द घटनाओं के गूढ़ आरोह और अवरोहों का ज्ञान कराता चलता है। चरम सीमा पर पहुँचने के बाद ही नाटक का अंत हो जाता है, अंतर्द्वंद्व की समाप्ति के बाद लेखक जैसे एक शब्द भी जोड़ना अनावश्यक समझता है। पाठक अनुभव करता है कि नाटक की सारी घटनाएँ एक बिजली की भाँति उसके हृदयाकाश पर तड़प कर विलीन हो गई और उस क्षणिक प्रकाश में उसने जो दृश्य देखा है वह अवि-स्मरणीय है। उनके पात्र अपने अंतर्द्वंद्वों के बीच हमारे हृदय-पटल पर सहानुभूति की एक अमिट रेखा छोड़ जाते है। वे सदैव साधारण से उच्च स्तर पर उठने का प्रयत्न करते दिखाई पड़ते हैं और अप्रत्यक्ष रूप में अपने साथ हमारे हृदय को भी ऊँचा उठा लेते हैं। यहीं पर रामकुमारजी की लेखनी की विजय है। वह

भावनाओं का एक गुप्त संसार हमारे सामने मूर्त्त कर देते हैं।

रामकुमारजी एक नाटककार भी हैं और कवि भी। उनके प्रारम्भिक नाटकों में कविता ही नाटक की प्रेरक शक्ति है। किन्तु इस तीसरे संग्रह में कवि रामकुमार का विकास नाटककार रामकुमार में निश्चित् रूप से हो गया है। अब रामकुमार के हृदय में बैठा हुआ नाटककार कविता से प्रेरित न होकर जीवन के कौतूहल से प्रेरित होता है, यद्यपि इस कौतूहल में कविता की भावनाएँ पूर्व-संस्कार की भाँति जुडी रहती हैं। हमें ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ कार्य-व्यापार की अभिव्यक्ति काव्यमय हो उठी है। उदाहरण के लिए 'अंधकार' में उन्होंने स्वर्ग के कक्ष का जैसा वर्णन दिया है वैसा शायद् रङ्गमञ्च पर निर्मित न किया जा सके किन्तु हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि स्वर्ग-कक्ष के वातायन का मयूर के फैले हुए पुच्छाकार के ढग का होना तथा उसपर किरणों के धवल वस्त्र का भैरव राग की भाँति मन्द गति से आन्दोलित होना—हमारी स्वर्ग-संबंधी कल्पना की ही अपेक्षा रखता है। इस प्रकार के प्रतिन्यास से रामकुमारजी ने परिस्थितियों की वास्तविक और तीव्रतम अनुभूतियाँ हमारे सम्मुख साकार उपस्थित कर दी हैं।

'चारुमित्रा' सभी दृष्टियों से रामकुमारजी के एकांकी नाटकों का अपूर्व संग्रह है। इसमें संग्रहीत प्रथम नाटक 'चारुमित्रा' की पृष्ट-भूमि ऐतिहासिक, 'रजनी की रात' की सामाजिक और शेष दो 'उत्सर्ग' तथा 'अंधकार' की दार्शनिक है। जिन्होंने रामकुमारजी के कवि के विकास का अध्ययन किया है उन्हें पता होगा कि उनके कवि के सौकुमार्य के पीछे दार्शनिक का हलका-सा प्रश्न-चिह्न भी

मौजूद है। दोनों का सुन्दर मिश्रण उनमे है। 'अंधकार' को तो एक प्रकार का दार्शनिक रूपक कहा जा सकता है। उन्होंने हास्य, व्यंग, सामाजिक, समस्यामूलक सभी प्रकार के नाटक सफलता-पूर्वक लिखे हैं। पर मेरे विचार से 'चारुमित्रा' संग्रह उनकी प्रतिभा का एक निश्चित और प्रामाणिक रूप हमारे सामने रखता है। 'उत्सर्ग' और 'अंधकार' हिन्दी नाटक मे नये प्रयोग हैं और रामकुमारजी की मौलिक प्रतिभा ने इस क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन का जो साहस किया है, मैं उसका अभिनन्दन करता हूँ। रामकुमारजी की नाट्य-कला में मधुर कल्पनाओं का एक जीवित लोक संचरित है। वे मानवता के पक्ष को उत्तेजित ही नहीं करते, उसके हार्दिक अनु-बन्धों की घुंडी खोल देते हैं। वे हृदय को छूते हैं और रस टपकने लगता है।

एक ओर जब वर्माजी की प्रखर वस्तुवादिता दृश्य-विधान की सफल योजना में सहायक है तो दूसरी ओर उनकी कवि सिद्ध कोमलता उन्हें भौतिकवाद की नीरसता से बचाए हुए है। उनका प्रखर यथार्थ भी ऐसा रूप लेकर सामने आता है कि हम उसकी ओर आकर्षित होने लगते हैं और वह हमारा आदर्श बन जाता है। इस आदर्श और यथार्थ की संधि मे ही वर्माजी की ललित कल्पना बड़ी सहायक हुई है।

अपने साहित्य के इस सफल एकांकी नाटककार का मैं अभिनन्दन करता हूँ।

प्रयाग
५–५–४२

श्रीरामनाथ 'सुमन'

चारुमित्रा

निर्देशिका

चारुमित्रा

[नवंबर १९४१]

पात्र

१. सम्राट् अशोक— मगध के सम्राट्
२. तिष्यरक्षिता— सम्राट् अशोक की रानी
३. उपगुप्त— बौद्ध भिक्षु तथा आचार्य
४. चारुमित्रा } तिष्यरक्षिता की परिचारिकाएँ
५. स्वयंप्रभा }
६. राजुक— द्वार-रक्षक
७. पुष्य— शिविर-रक्षक

स्त्री, प्रहरी आदि

स्थान— कलिंग का शिविर

काल— ई० पू० २६१

अभिनय-भूमिका

इस नाटक का सर्वप्रथम अभिनय इलाहाबाद यूनि-वर्सिटी 'विमेन्स' हॉस्टल द्वारा कुमारी चन्द्रावती त्रिपाठी एम० ए० के निर्देशन में १६ नवंबर १९४१ को हुआ। भूमिका इस प्रकार थी:—

१. अशोक— कुमारी कुमुदिनी गुप्ता
२. तिष्यरक्षिता—कुमारी शकुन्तला चतुर्वेदी
३. चारुमित्रा— कुमारी लवंगलता जोशी बी० ए०
४. उपगुप्त— कुमारी सुरेन्द्रमोहिनी सिनहा
५. राजुक— कुमारी चन्द्रकान्ता कोचर
६. स्वयंप्रभा— कुमारी सत्या मेहता
७. स्त्री— कुमारी कमला सक्सेना बी० ए०
८. पुष्य— कुमारी राजकुमारी कोहली

[२६१ ई० पू० । सम्राट् अशोक ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में कलिंग पर चढ़ाई कर दी है। उसका कारण यह है कि कलिंग-नरेश सम्राट् अशोक की सत्ता स्वीकार करने मे अपना अपमान समझता है। उसने भारत के बाहर भी अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं। सम्राट् अशोक को यह सहन नहीं हो सकता। उसने उज्जैन और तक्षशिला में आत्माभिमान की जो दीक्षा प्राप्त की है, वह कलिंग-नरेश के स्वातंत्र्य-प्रेम से समझौता नही कर सकती। और जब अशोक ने महाराज चंद्रगुप्त के वंश मे जन्म लिया है, तो वह कैसे अपने अधिकार से आँख मूँद सकता है ? इस समय उसका राज्य उत्तर में हिन्दूकुश से लेकर दक्षिण मे पेनार नदी तक है और पश्चिम में अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक। सिर्फ़ कलिंग एक मतवाले नाग की तरह सिर उठाये हुए विषम दृष्टि से अशोक की ओर देखता है। अशोक उस नाग का सिर कुचलना चाहता है। उसने दो वर्ष पहले कलिंग पर चढ़ाई कर दी है।

उसकी सैन्य-शक्ति अपार है। पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथियों को उसने कलिंग की सीमा पर अड़ा दिया है। वे आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। सम्राट् अशोक स्वयं सैन्य-संचालन करते है। उनका शिविर उनकी सेनाओं के साथ है। वे युद्ध के अतिरिक्त किसी भी विषय पर बात नहीं करना चाहते। उनका व्यक्तित्व दृढ़ और तेजस्वी है। ऊँचा क़द और भरे हुए अंग, जिन पर शस्त्र सजे हुए हैं। एक बड़ी ढाल उनकी पीठ पर कसी हुई है और तलवार उनके हाथ का भाग बन गई है। सुंदर

मुखाकृति, जिसमे अभिमान और उत्साह का चित्र शक्ति की रेखाओं से खिचा हुआ है। मस्तक पर शिरस्त्राण और कानों में कुंडल। भौंहें मिली हुईं और ओठ कसे हुए। शरीर पर सटा हुआ वस्त्र। चाल में सतर्कता और दृढ़ता। वे अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से ही कुछ क्षणों तक विपक्षी को अप्रतिभ बना देते हैं और अपनी विजय को विपक्षी की मृत्यु की रेखाओं से ही गिनते हैं। वे दया के अनुकूल नहीं—क्रूरता के प्रतिकूल नहीं।

उनका शिविर इस समय गोदावरी तट पर है। दूर पानी के बहने और शिलाओ से टक्कर खाने की आवाज है। शिविर के चारों ओर लताओं और गुल्मों का जाल है। समस्त वातावरण में शांति और सौंदर्य है, जो कभी किसी सैनिक की ललकार से या पक्षी के तीखे स्वर से भंग होता है लेकिन फिर शान्त हो जाता है—जैसे एकाकी मार्ग में चलती हुई कोई स्त्री ठोकर खाने से चीख़ उठे, लेकिन फिर अपने मार्ग पर चलने लगे। शिविर के परदों पर शस्त्र त्रिकोण में या लंबी रेखाओं के रूप में सजे हुए हैं। जगह जगह युद्ध के वस्त्र टँगे हुए हैं।

इस समय शाम के छः बजे हैं। सम्राट् अशोक युद्ध से नहीं लौटे। उनकी रानी तिष्यरक्षिता शिविर में बैठी है। या तो सम्राट् अशोक ही महारानी तिष्यरक्षिता को अपने साथ युद्ध-कौशल दिखलाने के लिए ले आये हैं, या सम्राट् का वियोग सहन न कर सकने के कारण उनकी कुशल-कामना करते हुए, उन्हें अपने दृष्टि-पथ मे रखने के लिये ही तिष्यरक्षिता सम्राट् अशोक के

साथ चली आई है। इस समय वह अपने कक्ष में बैठी हुई चित्र वना रही है। शिविर के कक्ष मे ऐश्वर्य बरस रहा है। स्तंभों में स्वर्णलताएँ लिपटी हैं, और उनपर रत्नों के फूल हैं, जो प्रकाश में ज्योति-मंडल बन जाते हैं। नीलम और मोतियों की झालरों से कक्ष की दीवारों पर समुद्र की फेनिल लहरों का आभास उत्पन्न किया गया है। पीछे एक महराब है, जिसके दोनों ओर एक एक हाथी घुटने टेके हुए है। चारों ओर दीपस्तंभ हैं, जिनमें दीपक जल रहे हैं और उसी स्तंभ में फूल के आकार के पात्र से सुगंध-धूम निकल रहा है। कक्ष के बीच में एक ऊँचा और सजा हुआ आसन है। उससे हटकर कोने की ओर चार छोटे-छोटे कुर्सीनुमा आसन हैं। उन आसनों में से एक पर तिष्यरक्षिता बैठी हुई है। उसके सामने चित्रफलक पर एक अधबनी तस्वीर है, जिसमें प्रकृति का सौंदर्य अपनी पूर्णता के लिये तिष्यरक्षिता की तूलिका में से उतर रहा है।

कमरे में निस्तब्धता है। तिष्यरक्षिता चित्र बनाने में लीन है। रुक कर एक ही स्थान पर खड़ी रह कर वह भिन्न भिन्न कोणों से चित्र की ओर देख रही है। दो क्षणों तक चित्र देखने के बाद, वह अपनी तूलिका से दीपस्तंभ के पात्र पर शब्द करती है। एक परिचारिका प्रवेश कर दोनों हाथ जोड़ कर प्रणाम करती है।]

तिष्य०—चारु! देख यह चित्र कितना अच्छा बन रहा है!

चारु०—बहुत अच्छा महारानी!

तिष्य०—चारु, मैंने चाहा कि इसी जगह की प्रकृति का चित्र बना लूँ। यहाँ रहते-रहते ये पेड, ये झुरमुट, ये फूल, मुझे

बहुत अच्छे लगने लगे हैं। लता खिलती है तो मालूम होता है जैसे उसके सुहाग के दिन आये हैं। और गोदावरी तो ऐसे बहती है, जैसे किसी के छूने पर उसे रोमाच हो आया है। तुझे भी तो यह जगह अच्छी लगती होगी !

चारु०—हॉं महारानी, मुझे बहुत अच्छी लगती है।

तिष्य०—तब तो यह युद्ध समाप्त हो जाने दे। फिर तेरा विवाह इसी जगह रचाऊॅगी। इन्हीं पेड़ों के नीचे मंडप होगा और इन्हीं फूलों से तेरी मॉंग भरूॅगी।

चारु०—महारानी, आपका चित्र बहुत अच्छा बना है।

तिष्य०—तू अपने विवाह की बात इस तरह उडा देना चाहती है ? इसी चित्र में तेरे विवाह का भी चित्र होगा।

चारु०—महारानी, आप अपनी तूलिका को कष्ट न दें। आपकी कला हम लोगों के लिए बहुत ऊॅंची है।

तिष्य०—तू बहुत मीठी बातें करती है चारु, लेकिन मेरी कला जीवन के हर एक चित्र को अपना अग समझती है। यही दृश्य देख–कितना साधारण है पर मुझे तो बहुत प्रिय है।

चारु०—यह तो यहीं पास के कुज का चित्र है।

तिष्य०—हॉं, चारु, मैं कल वहॉं गई थी महाराज के साथ। वे न जाने कैसे हो गये हैं ! सब समय युद्ध की बातें करते हैं। तेरे कलिंग देश पर जब से उन्होंने चढ़ाई कर दी है तब से तो उन्होंने सारा राज्य-कार्य महामात्रों पर ही छोड रक्खा है। आज

दो वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और कलिंग पर उनका क्रोध वैसा ही बना हुआ है ।

चारु०—यह मेरे देश का दुर्भाग्य है ।

तिष्य०—मैं चाहती हूँ चारु, कि यह लड़ाई शीघ्र ही समाप्त हो जाय । सच मान, यह युद्ध मुझे अच्छा नहीं लगता । हमारे सुख और शाति के जीवन में जहाँ हँसी का फूल खिलना चाहिए वहाँ आह और कराह काँटे की तरह चुभ जाती है ।

चारु०—महारानी, लडाई में यही आह और कराह तो तलवार का संगीत बनती है ।

तिष्य०—अच्छा चारु, यह बता तू ने कभी लड़ाई लडी है ?

चारु०—नहीं, महारानी !

तिष्य०—तू जानती ही नहीं, लड़ाई किसे कहते हैं ? जीवन भी तो एक लड़ाई है । पुरुष की स्त्री से लड़ाई, स्त्री की पुरुष से लड़ाई । स्त्री-पुरुष की पुरुष-स्त्री से लड़ाई ! तू ने कभी लडाई लड़ी ही नहीं ?

चारु०—नहीं, महारानी !

तिष्य०—विवाह होने से पहले इसका अभ्यास अवश्य कर ले !

चारु०—जी, महारानी !

तिष्य०—और चारु, मैं भी महाराज से लडना चाहती हूँ । वे यह युद्ध बद कर दे । मुझे यह अच्छा नहीं लगता । कितने वीरों का रोज़ ख़ून होता है । आज जिन वीरों से देश की उन्नति

होती, वही व्यर्थ मर रहे हैं—जो वीर मिट्टी छूकर सोना बनाते, वही आज मिट्टी हो रहे हैं !

चारु०—सच है, महारानी !

तिष्य०—लेकिन कलिंग के लोग लड़ना भी अच्छी तरह से जानते हैं, नहीं तो मगध की सेना के सामने कौन टिक सकता है ? दो वर्षों से तो यह लड़ाई चल रही है ।

चारु०—अभी बहुत वर्षों तक चलेगी, महारानी !

तिष्य०—[आवेश से] क्या क्या चारु, तू महाराज की शक्ति का अपमान करती है ?

चारु०—महारानी, क्षमा कीजिए । इसमें महाराज की शक्ति का अपमान नहीं है । मेरे कलिंग के लोग वीर हैं । वे माता की तरह अपनी भूमि का आदर करते हैं । जब तक एक भी वीर है, तब तक तो कलिंग की जय का घोष वायु को सहन करना ही होगा !

तिष्य०—तू विद्रोह की बातें करती है, चारु !

चारु०—महारानी, मैं विद्रोह की बातें नहीं करती, मैं अपने देश के गौरव की बातें कह रही हूँ ।

तिष्य०—तब तो तू महाराज के साथ विश्वासघात कर सकती है !

चारु०—महारानी, मैंने महाराज की सेवा उस समय से की है, जब उनका राज्याभिषेक भी नहीं हुआ था । आपके

चरणों की छाया में मैं बड़ी हुई हूँ। जब मैं महाराज की सेवा में कलिंग से आई थी, तब तो युद्ध की बात ही नहीं थी। आज मेरा देश कलिंग संकट में है, तो महारानी, मुझे उसके संबंध में कुछ कहने की आज्ञा भी नहीं मिलेगी ?

तिष्य०—चारु, तुझे पूरी आज्ञा है किन्तु मैं महाराज का अपमान सहन नहीं कर सकती।

चारु०—संसार में उनका अपमान करने की क्षमता किसी मे नहीं है, महारानी। और मैं तो उनकी आजन्म सेविका हूँ।

तिष्य०—लेकिन जब से कलिंग युद्ध हुआ है, तब से मैं महारानी होकर भी तुझसे डरती हूँ।

चारु०—महारानी, आप मुझे आत्म-हत्या की ओर प्रेरित करती हैं।

तिष्य०—[हँसकर] मैं तो तुझसे हँसी कर रही थी, चारु। तू भी कभी हमसे विश्वासघात कर सकती है ?...चारु, मुझे प्यास लग रही है।

चारु०—जो आज्ञा [कोने से पात्र भरकर देती है।]

तिष्य०—[दो घूँट पीकर] लेकिन चारु, यह युद्ध मुझे नहीं चाहिए। कितने दिनों से इस शिविर मे रहते हुए जैसे मेरा सुख सपना बनता जा रहा है। यदि महाराज का वियोग सहन कर सकती, तो चारु मैं पाटलीपुत्र से कलिंग के इस शिविर में न आती। रात्रि में युद्ध की समाप्ति पर उनके दर्शन कर लेती हूँ तो

जैसे वृद्धा से युवती बन जाती हूँ। आज कहूँगी कि वे कलिंग का युद्ध वंद कर दें। वीरों को स्वतत्र साँस लेने देना भी तो दया की क्रूरता पर विजय है। मुझे तो इस विजय पर ही सतोष है।

चारु०—आप देवी हैं।

तिष्य०—फिर बतला क्या उपाय करूँ, चारु? महाराज तक्षशिला में रह कर बड़े क्रूर वन गये हैं। कहते हैं, पूज्य पितामह, जिन्होने निकेटर सिल्यूकस की प्रचंड सेना का नाश कर दिया था, जिन्होंने अलक्षेंद्र के राज्य की दिशा बदल दी थी, तक्षशिला के ही तो विद्यार्थी थे। पितामह के योग्य पौत्र बनने का आदर्श जो है उनके सामने।

चारु०—हाँ, महारानी।

तिष्य०—अच्छा चारु, आज महाराज से एक बात पूछूँगी कि आपके पूज्य पितामह ने तो सेल्यूकस पर विजय पाकर उनकी सुदरी कन्या पर भी विजय पाई थी। क्या आपकी विजय में भी किसी......

चारु०—महारानी, क्षमा करें। कलिंग देश वीरों का देश है, कन्याओं का नहीं!

तिष्य०—क्या कलिंग देश में कन्याएँ होती ही नहीं? चारु, तू तो अपने देश की तारीफ़ करते करते ऊबती नहीं। महाराज की तारीफ़ क्यों नहीं करती जिन्होंने कलिंग से युद्ध होने पर भी कलिंग देश की सेविका को अपने देश से नहीं निकाला।

चारु०—महारानी, महाराज अशोक सम्राट् हैं। मेरे यहाँ रहने से उनका क्या बनता-बिगड़ता है।

तिष्य०—आचार्य चाणक्य ने शत्रु के विषय में क्या कहा है, जानती है? कहा है—शत्रु कभी छोटा नहीं होता।

चारु०—महारानी, मैं अपने पद से अलग होने की आज्ञा चाहती हूँ।

तिष्य० [हँसकर]—बस, बुरा मान गई! बात बात पर आज्ञा चाहती है। अरे तू सेविका होकर भी मेरी सखी है। अच्छा देख, मेरा चित्र और ध्यान से देख!

चारु० [ध्यान से देखते हुए]—महारानी, आपने तो टूटे हुए वृक्ष बनाये हैं और उनमें लाल रंग भर दिया है।

तिष्य०—बतला, इसमे क्या रहस्य है?

चारु०—मैं चित्रकला नहीं जानती, महारानी।

तिष्य०—अरे, यह तो साधारण समझ की बात है। यह चित्र मैं महाराज को दिखलाना चाहती हूँ। उनसे कहूँगी—देखिए आपने कलिंग के वीरों को तो खून से नहला ही दिया है। अब आपकी तलवार इन बेचारे वृक्षों पर भी पड़ी है और उनकी शाखों और टहनियों से यह रक्त निकल रहा है।

चारु०—महारानी, आपकी बात की थाह नहीं ली जा सकती।

तिष्य०—चारु!

चारु०—महारानी !

तिष्य०—महाराज अभी नही आये ?

चारु०—नहीं, महारानी !

तिष्य०—देख यह गोदावरी का सुरम्य तट, ये पानी की लहरें जैसे सौंदर्य की मालाएँ हो, जो आप से आप गुँथकर बडी होती हैं और तट पर किसी का हृदय न पाकर टूट जाती हैं !

चारु०—हॉ, महारानी !

तिष्य०—और ये जो पक्षी उडते चले जा रहे हैं जैसे प्रेम की ग्रथियॉ हैं, जिन्होंने आकाश में उड़ना सीख लिया है। अच्छा सुन, यह समस्त वातावरण तेरा नाच देखना चाहता है। तू नाच सकेगी ?

चारु०—जो आज्ञा, महारानी !

तिष्य०—जा, जल्दी पैरों मे सगीत भर ला।

[चारु जाती है। तिष्या थोड़ी देर प्रकृति की ओर देखती है, फिर अपने चित्र के पास आकर तूलिका उठाती है और उसमे रंग भरने लगती है। धीरे धीरे गाती जाती है—

अली पहिचान गया कलि को !

चारु पैर मे नूपुर पहनकर आती है और तिष्य के सामने खड़ी होती है।]

चारु०—आज्ञा है ?

तिष्य०—मेरी, और उस कली की भी जो नाच के साथ खिलना चाहती है।

[चारु प्रणाम कर नृत्य करती है। कुछ समय तक नृत्य होता है। तिष्य तन्मय होकर देखती है, कभी बीच बीच में प्रशंसा करती जाती है। अकस्मात् 'महाराज अशोक की जय' का घोष। नृत्य रुक जाता है। तिष्य चारु को देखती है और चारु तिष्य को।

'महाराज अशोक की जय'! 'सम्राट् अशोक की जय'! शीघ्रता से एक परिचारिका का प्रवेश।]

परि०—महारानी, महाराज शिविर में लौट रहे हैं। [जाती है।]

चारु०—महारानी, अब क्या होगा ?

तिष्य०—कुछ नहीं। तू अपने नूपुर उतार दे।

चारु०—[सिर हिलाकर] जो आज्ञा।

[बैठ कर नूपुर उतारने लगती है। एक पैर का नूपुर उतर जाता है, लेकिन दूसरे पैर का उतारने में उलझ जाता है और प्रयत्न करने पर भी नहीं उतरता। इतने में ही जय-घोष के साथ महाराज अशोक का प्रवेश। तिष्य और चारु प्रणाम करती हैं। अशोक अभय-मुद्रा में हाथ ऊपर करते हैं।]

अशोक—विजय, देवी, आज युद्ध मे फिर विजय ! ओह, तुम्हारी मंगल कामनाओं में कितनी शक्ति है ! विजय, विजय, विजय ! [हाथ उठाता है।]

तिष्य०—महाराज की विजय हो !

चारु०—महाराजाधिराज की विजय हो !

अशोक—देवी, शत्रुओं की संख्या बहुत अधिक थी। हाथी

और घोड़े जैसे दुर्भाग्य की तरह अड़े हुए थे, लेकिन तुम्हारी मंगल-कामना ने मुझे और मेरे वीरों को ऐसी शक्ति दी कि वे सूखे पत्तों की तरह बिखर कर चूर हो गये। मेरी शक्ति के पीछे देवी, तुम्हारी मंगल-कामना है। चारुमित्रा, देवी पर पुष्प-वर्षा हो।

[चारुमित्रा आगे बढ़ने के लिये पैर उठाती है कि उसके पैर का नूपुर शब्द कर उठता है।]

अशोक—[चारु के पैरों पर दृष्टि गड़ाकर] अरे यह क्या? नृत्य! संग्राम भूमि में रंगभूमि! [प्रश्नसूचक मुद्रा में] चारु!

चारु०—महाराज, क्षमा चाहती हूँ।

अशोक—मेरी युद्धभूमि में केवल भैरवी का नृत्य हो सकता है, चारुमित्रा का नहीं।

चारु०—महाराज......

अशोक—और उस भैरवी नृत्य में तलवारों का संगीत होगा, नूपुरों का नहीं!

चारु०—महाराज......

अशोक—मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा, तुझे क्या पुरस्कार चाहिए! रत्नों का हार, मोती की माला?

चारु०—मुझे दंड दीजिये महाराज!

अशोक—मेरे युद्ध के उत्साह में कोमलता भरने वाली चारुमित्रा, तुझे दंड ही मिलेगा। तू इस नीति से मुझे युद्ध करने

से रोकना चाहती है ? स्त्री ! कलिंग से उत्पन्न शरीर कलिंग का ही साथ देगा ! विश्वासघातिनी ! चारुमित्रा !! (पुकार कर) राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक—राजुक, चारुमित्रा जलते हुए अगारो पर नाचना चाहती है ! आग तैयार हो !

रा०—जो आज्ञा ! [प्रणाम कर प्रस्थान ।]

अशोक—चारुमित्रा, दूसरे पैर मे भी नूपुर पहन ले । एक पैर से पूरी ध्वनि नहीं निकलेगी । दूसरा पैर नूपुरों की प्रतीक्षा मे है ।

[चारु दूसरे पैर मे भी नूपुर पहनने के लिये झुकती है ।]

तिष्य०—महाराज !

अशोक—देवी !

तिष्य०—महाराज, चारु का दोष नहीं है ।

अशोक—देवी, चारु का दोष नहीं है ? यह कैसी बात कहती हो? कलिंग के शरीर मे कलिंग की आत्मा का मगध के साथ क्या व्यवहार हो सकता है ? चारु जानती है कि मेरे क्रोध में उसका देश जल रहा है । वह मेरे क्रोध की ज्वाला को शात करने के लिये अपने संगीत और नृत्य का प्रयोग करना चाहती है । मुझे नहीं सुना सकती तो तुम्हें सुना कर तुम्हारे द्वारा मुझमें कोमलता का सचार करना चाहती है । मैं देख रहा हूँ, तुम्हारे

स्वभाव को भी उसने दया से भर दिया है।

तिष्य०—महाराज, दया करना तो स्त्री का स्वाभाविक धर्म है। चारु मुझे क्या दया से भर सकती है। किन्तु महाराज, चारु निरपराध है। आपके वियोग के क्षणों को काटने का यह मेरा साधारण उपाय था। मैंने ही चारु को आज्ञा दी थी कि वह नृत्य करे।

अशोक—तुमने आज्ञा दी थी ?

तिष्य०—हाँ, महाराज, युद्ध के भयानक क्षणों मे स्त्री के एकाकी हृदय को कौन-सा सहारा है ? सगीत, नृत्य, चित्रकला ! यही तो !

अशोक—चारु अपनी ओर से नृत्य करने नहीं आई ?

तिष्य०—नहीं महाराज, उसे क्षमा कीजिये।

अशोक—अशोक ने किसी को भी अपराध करने पर क्षमा नहीं किया, किंतु इस समय क्षमा करता हूँ। [चारु की ओर देखकर] चारु, तुम्हे क्षमा करता हूँ। अच्छा हो कि तुम्हारा नृत्य भैरवी-नृत्य बनकर मगध की विजय के लिये हो। और यदि ऐसा न कर सको तो फिर यह नृत्य अपने कलिंग के कटते हुए वीरों के रुंडो और मुडो के लिए रहने दो। [पुकार कर] राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

अशोक—आग तैयार हो गई ?

रा०—जी।

अशोक—उस आग से उन कायरों को शीतल करो जो आज युद्ध-भूमि से पीछे हटे हैं।

रा०—जो आज्ञा। [जाने लगता है।]

अशोक—और सुनो—यह मत सुनना कि वे संचालन-कौशल से सावधानी के साथ पीछे हटे हैं। युद्धभूमि के अतिरिक्त प्रत्येक भूमि वीरों के लिये कलंक-भूमि है।

रा०—जो आज्ञा!

[जाता है।]

अशोक—चारु, जा, इन संगीत भरे पैरों को विश्राम की आवश्यकता है।

[चारु सिर झुकाकर जाती है।]

अशोक—देवी, कलिंग से युद्ध करते समय मुझे ज्ञात होता था जैसे पाटलीपुत्र की शक्ति से एक प्रलय उत्पन्न हुआ है, जो कलिंग को खून के समुद्र में डुबाना चाहता है। तक्षशिला, गान्धार, उज्जैन और तोशली के बड़े बड़े वीर मेरी घूमती हुई दृष्टि की दिशा में ही अपनी तलवार घुमाते थे। सेना की एक-एक टुकड़ी पानी की लहर की तरह बढ़ती और धीरे धीरे बड़ी होकर शत्रुओं की तलवार से टकराती थी। वे तलवार भी नहीं घुमा सकते थे। उस समय मुझे तो ऐसा ज्ञात होता था कि मेरी ललकार भी तलवार थी, जिसके सामने घूमा हुआ हथियार भी लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता था।

तिष्य०—महाराज, इतना रक्तपात....

अशोक—मैंने अपनी सेना का अर्धव्यूह बनाकर आक्रमण किया था। शत्रु सोचते थे जैसे सहस्रों धूमकेतु एक विशेष आकार में कसे हुए मौत की आग लेकर आ रहे हैं। न जाने कितने शत्रु हाथियों के पैरों से पिस गये—सैकडों घोडों के पैरों में उलझकर खून से लथपथ हो गये। मालूम होता था—खून का नाला महानदी में मिलने के लिये जा रहा है।

तिष्य०—महाराज, इतना भयानक युद्ध!

अशोक—मुझ पर भी एक वीर ने तलवार चलाई। मैंने तक्षक की तरह अपना सिर बचा लिया। उसकी तलवार वायुमडल में खाली चक्र बनाकर रह गई। अपने निष्फल हुए आक्रमण के वेग से वह मुड गया। उसके मुडते मैंने तलवार की नोक उसकी पसलियों में घुसेड दी। उसकी ललकार आह में बदलकर खून में डूब गई। वह टूटे हुए पेड़ की तरह जमीन पर गिर पड़ा।

तिष्य०—महाराज, आपका युद्ध-कौशल भयानक है!

अशोक—फिर मैं मरे हुए घोड़े की पीठ से पैर टेक कर लडता रहा। शत्रुओं के नायक वीरभद्र की तलवार जैसे ही आगे गिरने के लिए अर्धचद्र बना रही थी वैसे ही मैंने झुक कर कक्ष भाग से कधे पर ऐसा वार किया कि अपने वेग में, भुजा समेत उड़कर उसकी तलवार एक हाथी की पीठ में घुस गई। हाथी शत्रु-पक्ष को कुचलता हुआ भाग खडा हुआ। उसी वक्त

सेना के पैर उखड़ गये और आज की विजय ने, देवी, तुम्हारे गले मे माला पहिना दी।

तिष्य०—महाराज, बहुत भयानक युद्ध है! अब सहन नही हो सकता।

अशोक—देवी, तुम बड़ी कोमल-हृदया हो। यह युद्ध तुम्हारे लिये नहीं है। इसीलिए मैं चाहता था कि तुम पाटलीपुत्र में ही रहो। किंतु तुम्हारा ही अनुरोध मुझे विवश कर सका कि तुम्हें साथ ले आया।

तिष्य०—महाराज, यदि मैं एक अनुरोध और करूँ?

अशोक—क्या?

तिष्य०—यह युद्ध रोक दीजिए!

अशोक—यह क्या कह रही हो देवी? युद्ध का रुक जाना पाटलीपुत्र की उन्नति का रुक जाना है। किसी भी साम्राज्य की सीमा तलवार से खींची जाती है और सीमा को स्थायी रखने के लिये उस रेखा में रक्त का रग भरा जाता है। [कक्ष में दृष्टि डालता है। चित्रफलक पर दृष्टि डाल कर] अच्छा, यह तुमने बडा सुन्दर चित्र बनाया है!

तिष्य०—हाँ, महाराज, आपको पसद है?

अशोक—बहुत सुदर है। यह तो उस कुज का है, जहाँ बैठकर मैंने युद्ध का कार्यक्रम बनाया था।

तिष्य०—हाँ महाराज, मै भी साथ थी।

अशोक—तो ये वृक्ष टूटे हुए क्यों दिखाये गये हैं ?

तिष्य०—महाराज, युद्ध की तेजी में आपकी तलवार शत्रुओं पर पड़ने के साथ ही इन वृक्षों पर भी पड़ी है। वे भी बेचारे कट गये हैं और उनसे रक्त निकल रहा है।

अशोक—तो रक्त के स्थान पर लाल रग की क्या आवश्यकता ! सच्चा रक्त भरो इनमें। वह तो बहुत मिल सकता है। मैंने कितने खून की शारीरिक सीमाएँ नष्ट कर उन्हें पृथ्वीपर बहने मे पूर्ण स्वतत्रता दी है। वहीं से रक्त लो।

तिष्य०—महाराज, मेरा हृदय काँप रहा है इस युद्ध की भयानकता से। आप क्यों इतने वीरो के रक्त से राज्यश्री को अग्नि का रूप देना चाहते हैं ?

अशोक—देवी, अग्नि में तप कर ही स्वर्ण पवित्र होता है। आज मेरी तलवार में शक्ति है। उसका अधिक से अधिक उपयोग होने दो।

तिष्य०—जैसी महाराज की इच्छा। लेकिन मुझे बहुत दुःख है इस क्रूरता पर महाराज [सिर झुका लेती है।]

अशोक—[मनाते हुए] तुम दुखी हो देवी ? नहीं, दुखी होने की क्या बात ? तुम तो दया की देवी हो। तुम्हें तो किसी के दुःख से भी दुःख होने लगता है। मैं यथाशक्ति तुम्हारे सद्भावो की रक्षा तो करता हूँ। देखो देवी, आज तुम्हारी दया की ढाल ने मेरे दड के कृपाण को खूब रोका.....

तिष्य०—महाराज, चारु निरपराध थी।

अशोक—रणभूमि की दृष्टि से, या रंगभूमि की दृष्टि से?

तिष्य०—महाराज, वह सेविका है, आपके चरणों की छाया में ही वह बड़ी हुई है।

अशोक—किंतु आवश्यकता से अधिक बढ़ने पर उसे काटने-छाँटने की आवश्यकता होगी। देवी, मैं अपने शिविर में शत्रु-पक्ष के किसी व्यक्ति को अब रहने की आज्ञा नहीं दे सकता।

तिष्य०—किंतु अब वह शत्रु-पक्ष की कहाँ है महाराज? वह तो उस समय से आपकी सेविका है, जब कलिंग से युद्ध भी नहीं छिडा था।

अशोक—किंतु कृपा की दृष्टि राजनीति की दृष्टि नहीं होती देवी! आज युद्ध से लौटते समय मैंने चारु के सबध मे विचार किया था।

तिष्य०—युद्ध से लौटते समय!

अशोक—हाँ, युद्ध से लौटते समय कलिंग के कुछ व्यक्ति मुझे प्रणाम कर रहे थे, मुझे उनके प्रणाम मे चारु का प्रणाम दीख पडा। यदि इस समय चारु नृत्य न भी करती तो भी मैं उसे दडित तो करता ही।

तिष्य०—किंतु वह बेचारी!

अशोक—राजनीति तिष्यरक्षिता नहीं है देवी, जो दया से तरल हो जाय। लेकिन आज तुम्हारे कहने से मैंने राजनीति

को स्त्री का हृदय बना दिया ।

तिष्य०—महाराज, आपकी कृपा । आप विश्राम कीजिये !

अशोक—देवी, मुझे विश्राम ! पितामह चद्रगुप्त ने २४ वर्ष के शासन में कितना विश्राम लिया ? तक्षशिला से मगध तक पृथ्वी का प्रत्येक कण उनकी आहट सुनकर कॉपता था । बहुत से छोटे-छोटे राज्यों को एक सघ में गूँथकर उन्होंने अपनी राज्यश्री को विजय-माला पहनाई थी । सेल्यूकस निकेटर से उन्होंने गाधार और सीमाप्रात लेकर आर्यावर्त के मुकुट में कुछ रत्न और जड दिये थे । मैं उन्हीं की संतान हूँ देवी । विश्राम के लम्बे क्षणों में राज्य-सीमा सकुचित हो जाती है ।

तिष्य०—ठीक है महाराज, पर कलिंग युद्ध ने आपको बहुत उत्तेजित कर दिया है !

अशोक—कलिंग अपने को सम्राट् मानता है । वह पाटली-पुत्र का आधिपत्य नही मानता । सुमात्रा और जावा में उसने अपने उपनिवेश स्थापित कर रक्खे हैं । जलयानों मे विहार करता है और समझता है कि वह आर्यावर्त्त का सम्राट् है । तिष्या, वह मेरे शासन के मार्ग को एक स्तूप बनकर रोकना चाहता है । मैं आचार्य उपगुप्त के उपदेशों की भाँति उसे भी ठोकर मार देना चाहता हूँ ।

तिष्य०—महाराज, आचार्य उपगुप्त में और कलिंग मे समानता नहीं हो सकती ।

अशोक—क्यो नहीं ? आचार्य उपगुप्त बौद्ध धर्म के सबसे बड़े आचार्य हैं, कलिंग विद्रोहियों का सबसे बड़ा नेता है। मैं बौद्ध धर्म और कलिंग दोनों का नाश करूँगा।

तिष्य०—क्षमा, दया, करुणा, महाराज! आचार्य उपगुप्त कल यहाँ आये थे। उन्होंने कलिंग के भीषण रक्तपात को देखकर कहा था कि बुद्धि का अक्षय कोष मनुष्य, थोडी-सी भूमि के लिए मनुष्यत्व को मिट्टी में मिला देना चाहता है। कलिंग के सबध में कहा था कि अहकार का फल यही हुआ है और होगा।

अशोक—यह व्यग्य मुझ पर किया गया है, देवी!

तिष्य०—महाराज, उनके कथन मे सत्य है। क्या अहकार का नाश नहीं होना चाहिये ?

अशोक—अहकार और राज्य-धर्म में अंतर है। राज्य-धर्म पाटलीपुत्र का अधिकार है और अहकार कलिंग की वृत्ति है। उसे अपनी सेना का अहकार है। उसके पास साठ हजार पैदल, सात सौ हाथी और एक हज़ार घुडसवार हैं। समझता है कि वह इद्र का वशज है। मै अपनी सेना के हाथों उसके अहकार के पौधे को उखाड फेकूँगा तिष्या!

तिष्य०—कितनों का रक्त बहेगा महाराज!

अशोक—उसमे आर्यावर्त्त को नहलाकर पवित्र करना चाहता हूँ, देवी!

[नेपथ्य में भयानक तुमुल! किसी स्त्री का क्रन्दन स्वर—

अशोक का नाश हो···अशोक का सर्वनाश हो !! प्रहरी का स्वर—पुष्य, मार डालो इसे भी !]

तिष्य०—[कान बद कर क्रंदन स्वर में] नहीं, महाराज ! [अशोक के वक्षस्थल में छिप जाती है। अशोक ज़ोर से आवाज़ देता है।] नहीं ! [फिर तिष्य की पीठ पर हाथ फेर कर] शात हो ! शात हो—मैं अभी देखता हूँ । [अशोक तिष्य को सम्हाल कर आसन पर बिठलाता है, फिर शिविर की खिड़की से देखता हुआ] पुष्य, इस स्त्री को मेरे शिविर में भेजो ।

[तिष्य अपने हाथो से नेत्र बंद किये हुए है। अशोक तिष्य के हाथों को आँखों से हटा अपने हाथों में लेता है।]

अशोक—देवी, मैं अभी देखता हूँ कौन है ।

तिष्य०—महाराज, मैं आपका अमगल नहीं सुन सकती । [आकाश की ओर देखते हुए] महाराज का मंगल हो, महाराज का मगल हो, महाराज का मंगल हो ।

अशोक—कोई स्त्री है, गोद मे एक बच्चे को लिये हुए है ।

तिष्य०—मैं पूछूँगी, वह कौन है—क्यों ऐसी अशुभ बात मुँह से निकालती है ?

अशोक—अवश्य—तुम्हीं पूछो । मैं शस्त्र बदलने जाता हूँ । [जाता है ।]

[प्रहरी एक स्त्री को लेकर आता है । तिष्य के संकेत से प्रहरी हट जाता है । वह स्त्री लगभग २५ वर्ष की होगी । उसके

बाल और वस्त्र अस्त-व्यस्त है। वह अपने बच्चे को गोद में लिये हुए है। उसकी मुद्रा पागल स्त्री की तरह है।]

तिष्य०—आओ, आओ, देवी, तुम कौन हो ?

स्त्री—[विस्फारित नेत्रों से एक बार ही फूट कर] ओह, रानी ! अशोक का सर्वनाश हो......अशोक का सर्वनाश हो... मुझे भी मार डालो, मुझे भी मार डालो।

तिष्य०—ठहरो ठहरो, तुम महाराज के संबंध में कुछ नहीं कह सकती। चुप रहो। क्या चाहती हो ?

स्त्री—मैं क्या चाहती हूँ ? मेरे बच्चे के टुकड़े टुकड़े कर डालो। यह अभी मरा नहीं है। [पुत्र की ओर देखकर] लाल, अभी तुम मरे नहीं हो। ये लोग तुम्हारे टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे, तब तुम मरोगे। तब तक कुछ तो बोलो—बोलो मेरे लाल ! [अपने बच्चे को अपने हाथों ही में झकझोरती है।]

[अशोक का प्रवेश। वह दूर चुपचाप इस तरह खड़ा हो जाता है कि तिष्य के पीछे है और तिष्य की दृष्टि उस पर नहीं पड़ती। माता अपने बच्चे को देखकर]—तेरा खून इतना मीठा है मेरे बच्चे ! राजा तक उसे पीना चाहता है ! और खून हो तो अपने नन्हे से कलेजे को सामने रख दे। ये सब मिलकर पी लें।

तिष्य०—क्या तुम्हारा बच्चा मर गया है ! कैसे ?

स्त्री—अशोक राक्षस ले गया मेरे बच्चे को। राज्य नहीं

चाहता था मेरा लाल, लेकिन मेरे लाल को अशोक ले गया। ले गया इसे—

अशोक—[आगे बढ़कर] यह क्या कह रही हो तुम ? ठीक तरह से बतलाओ। तुम्हारा न्याय होगा। यह बच्चा कैसे मरा ?

स्त्री—मुझे न्याय नही चाहिए—नहीं चाहिए ! पाटलीपुत्र से न्याय उठ गया ! इसके पिता को सैनिकों ने घेर कर मारा और जब मै इसे बचाने लगी तो इसके फूल से कलेजे में भाला घुसेड़ दिया उन राक्षसों ने। मेरे बच्चे को राज नहीं चाहिए था। मेरा छोटा राजा तुम्हारा राज नहीं चाहता था। तब भी इसे—तब भी इसे......

अशोक—ठहरो, मैं उन दुष्टों को दड दूँगा। वीरों के लिए उनका भाला है, शिशुओं के लिए नहीं।

तिष्य०—महाराज, न्याय होना चाहिए बेचारी स्त्री का।

अशोक—होगा और अवश्य होगा।

स्त्री—मैं अब न्याय लेकर क्या करूँगी ! लाओ महाराज, मैं तुम्हें राजतिलक कर दूँ। अपने बच्चे के खून का तिलक लगा कर—[चिल्ला कर] महाराज अशोक...चक्रवर्ती अशोक...

अशोक—मैं अभी न्याय करूँगा। [पुकारते हुए] पुष्य...

[प्रहरी का प्रवेश]

अशोक—इस स्त्री को विश्राम शिविरों में ले जाकर अप-

राधियों की पहिचान कराओ, मै अभी आता हूॅ। जाओ......

[जाने को उद्यत होता है]

अशोक—और उन अपराधियों को बंदी कर मेरे सामने उपस्थित करना। समझे ?

प्रहरी—जो आज्ञा। [स्त्री से] चलो। [स्त्री को बलपूर्वक ले जाता है।]

स्त्री—[जाते हुए, नैपथ्य से] मेरा बच्चा, मेरा लाल ! [धीरे धीरे शब्द क्षीण हो जाता है। कुछ देर तक स्तब्धता रहती है। अशोक विचार-मग्न है, तिष्य कहती है।]

तिष्य०—महाराज, मुझे मूर्छा-सी आ रही है।

अशोक—देवी, विश्राम करो। मैं अभी न्याय करूँगा।

तिष्य०—महाराज, यह रक्तपात अब बंद हो !

अशोक—एक छोटी-सी घटना राज्य की बढ़ती हुई बेल को काट दे ! यह घटना तुम्हारा चित्र नहीं है देवी, जिसमें तूलिका के हलके झटके से राज्य की बेल कट जाय। देवी, युद्ध में तो यह सब होता ही है।

तिष्य०—महाराज, मैं क्या करूँ ?

अशोक—विश्राम करो। मैं विश्राम-शिविरों मे अभी जाता हूॅ। सेना के विश्राम की क्या व्यवस्था है, घायलो की क्या सुश्रूषा हो रही है, यह मुझे देखना है। [पुकार कर] राजुक ! [राजुक का प्रवेश।]

अशोक—महामात्रों से कहो कि अश्व तैयार हों। उन्हें मेरे साथ नैश-निरीक्षण के लिए चलना होगा।

रा०—जो आज्ञा, महाराज ! [जाता है।]

अशोक—देवी, महाराज बिंदुसार ने राज्य की सीमा नहीं बढाई। वे कदाचित् यह उत्तरदायित्व मेरे लिए छोड़ गये हैं। सम्राट चद्रगुप्त के परिश्रम की परंपरा कुछ वर्षों तक तो चले !

तिष्य०—कब तक महाराज ?

अशोक—जब तक कि पाटलिपुत्र का प्रवासी नागरिक कलिंग के जनपद मे निवासी होकर न रहने लगे।

[राजुक का प्रवेश]

रा०—महाराज, महामात्र और अश्व तैयार हैं।

अशोक—अच्छा, जाओ, मैं अभी आता हूँ। [तिष्य से] देवी, आज उस स्त्री का न्याय भी करूँगा और निरीक्षण भी। सैनिकों के पुरस्कार और दड की व्यवस्था एक साथ ही होगी। देवी, मगल कामना करो कि मगध चिरजीवी हो।

तिष्य०—महाराज, मेरे दुःख में भी मगध चिरजीवी हो।

[अशोक का प्रस्थान।]

तिष्य०—वायु के प्रवाह की भाँति सदैव अस्थिर ! अभी आये और अभी चले गये ! मैं क्या करूँ ! [चित्र की ओर दृष्टि डालती है।] यह चित्र ! [क्रोध से फाड़कर फेंक देती है। पुकार कर] स्वयप्रभा !

[स्वयंप्रभा का प्रवेश। वह प्रणाम करती है।]

स्व०—महारानी, यह क्या? यह चित्र किसने फाड़ दिया? ओह...इतना सुन्दर चित्र!

तिष्य०—मैंने—मैंने इसे नष्ट कर दिया।

स्व०—मैं इसे जोड़ सकती हूँ?

तिष्य०—नहीं। इसे उठा कर बाहर फेंक दे।

[स्वयंप्रभा फटे हुए चित्र के टुकड़े एकत्रित करती है।]

तिष्य०—स्वयप्रभा, महाराज गये?

स्व०—जी महारानी, पाँच महामात्रों के साथ अभी अभी गये हैं।

तिष्य०—चले गये! तू क्या कर रही थी?

स्व०—महारानी, आपके सुदर गीतों की स्वरलिपि लिख रही थी।

तिष्य०—सबको नष्ट कर दे। महाराज यह सब कुछ नहीं चाहते।

स्व०—महारानी, बड़े सुंदर गीत हैं!

तिष्य०—इस विषय में बात मत कर। जा।

[स्वयंप्रभा जाना चाहती है।]

तिष्य०—चारु कहाँ है?

स्व०—महारानी, अभी तो यहीं थी। कदाचित् शिविर-कक्ष में हो।
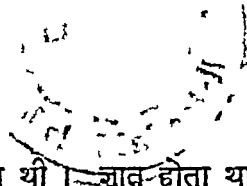
तिष्य०—रो रही थी ?

स्व०—महारानी, उदास तो बहुत थी । ज्ञात होता था कि उसके आँसू सूख गये हैं, किन्तु हृदय रो रहा है ।

तिष्य०—तूने उससे बातें कीं ?

स्व०—महारानी, मैंने आपके गीतों की स्वरलिपि पूछी, वह कुछ भी नहीं कह सकी ।

तिष्य०—बेचारी चारु ! आज चारु पर महाराज बहुत अप्रसन्न हुए ।

स्व०—महारानी, उससे कभी कोई अपराध तो हुआ नहीं ।

तिष्य०—कहते थे कि वह कलिंग की है, शत्रु-पक्ष की ।

स्व०—महारानी, आज तक महाराज की सेवा उसने जितनी श्रद्धा और भक्ति से की है, उतनी पाटलिपुत्र की किसी सेविका ने नहीं । वह तो महाराज के अंतःपुर की अगरक्षिका है ।

तिष्य०—हाँ, मैं भी यही समझती हूँ ।

स्व०—महारानी, महाराज की इच्छा ही उसके कार्य का नाम है । वह कैसे विश्वासघातिनी हो सकती है ?

तिष्य०—कहते थे, राजनीति की दृष्टि दया की दृष्टि नहीं है ।

स्व०—महारानी, राजनीति भी कोई राजनीति है यदि उससे सच्ची सेवा और सच्चे प्रेम में सदेह उत्पन्न हो जाय ।

तिष्य०—यही सदेह तो शायद उनके जीवन की सफलता है । उन्होंने शत्रु के छोटे से छोटे कार्य को अपनी शक्ति से

छिन्न-भिन्न कर दिया है। आज मेरी प्रार्थना पर ही उन्होंने चारु को क्षमा किया।

स्व०—महारानी, आपकी करुणा ने महाराज की शक्ति के साथ रह कर राज्य को सतुलित किया है।

तिष्य०—स्वयंप्रभा, आज मेरी करुणा सीमा तक पहुँच गई।

स्व०—कैसे, महारानी?

तिष्य०—एक स्त्री के छोटे से बच्चे को सैनिकों ने मार डाला।

स्व०—हाँ, महारानी, मैंने भी सुना।

तिष्य०—महाराज न्याय करने गये हैं। देखें, क्या न्याय करते हैं। मैं तो आज बहुत अशात हूँ।

स्व०—महारानी, विश्राम कीजिये......

[नैपथ्य में—बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि।]

स्व०—आचार्य उपगुप्त का कठ-स्वर है, महारानी!

तिष्य०—[स्वस्थ होकर] जाकर उन्हे यहाँ ले आ। मैं बहुत विह्वल हो रही हूँ।

स्व०—जो आज्ञा, महारानी। [स्वयंप्रभा जाती है।]

तिष्य०—[अपने आप मंद कंठ स्वर से] महात्मा उप-गुप्त......

[सम्हल कर उठती है और स्वयं आसन ठीक करती है। प्रतीक्षा-दृष्टि से द्वार की ओर देखती है। स्वयंप्रभा के साथ

महात्मा उपगुप्त का प्रवेश । महात्मा उपगुप्त बौद्ध [illegible] वेश म
हैं । कपाय वस्त्र धारण किये हुए हैं । हाथ में भिक्षा-पात्र ।]

तिष्य०—प्रणाम करती हूँ भते !

उ०—[अभय हस्त] सुखी रहो देवी ! क्या महाराज नहीं है ?

तिष्य०—भंते, वीर पुरुष घर नहीं रहते । रणक्षेत्र ही उनका घर है ।

उ०—देवी, रण-क्षेत्र हृदय को शाति नही दे सकता । तथागत ने कहा है—अहकार और ईषणा का नाश करो । यह युद्ध अधिकार-लिप्सा है, इसका अत नहीं है देवी !

तिष्य०—महात्मन्, आपका उपदेश महाराज के कानों तक पहुँचा ?

उ०—देवी, महाराज नीतिकुशल हैं । मेरी बातें सुनते है । मुस्कुराकर कहते हैं—आप थक गये होंगे भंते, विश्रामगृह आपकी प्रतीक्षा कर रहा है ।

तिष्य०—महात्मन्, यह युद्ध बंद होना चाहिये । मैं इस अत्याचार को सहन नहीं कर सकती ।

उ०—देवी, इस अत्याचार को कौन सहन कर सकता है ! एक लाख आदमी तो रण-क्षेत्र मे मर गये । तीन लाख घायल हुए हैं, जो एक लाख के पथ का अनुसरण करना चाहते हैं । देवी, रक्त की नदियाँ बह निकली है जो महानदी की समानता करने को अग्रसर हैं । कलिंग राज्य के घर फूल की पंखुडियों की

तरह गिर रहे हैं। देवी, तुम कुछ नहीं कर सकतीं ?

तिष्य०—महात्मन्, आज मैं रानी न होकर एक साधारण स्त्री होती, तो किसी प्रकार आत्म-बलिदान कर महाराज के मन की दिशा बदल देती। पत्नी होकर पति के मार्ग की बाधिका बनने का साहस मुझमें नहीं होता। राज-वंश की मर्यादा कैसे नष्ट करूँ ! महात्मन्, मै रानी होकर साधारण स्त्री भी नहीं रही !

उ०—तो कहता हूँ देवी, शात होओ। जब तक मनुष्य आर्यसत्य से परिच्चित नहीं होता, उसे दुःख उठाना ही पडता है। तथागत ने कहा है—भिक्खुओ, मैं सब बधनों से—लौकिक और अलौकिक से—मुक्त हो गया। अनेक के लाभ के लिए विचरण करो, अनेक के हित के लिए विचरण करो, ससार के प्रति करुणा के लिए विचरण करो, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए विचरण करो। देवी, मुझे विश्वास है, महाराज अशोक इस धम्म-शिक्षा को मानकर ससार का कल्याण करेंगे।

तिष्य०—भते, मुझे विश्वास नहीं होता।

उ०—समय की प्रतीक्षा करो। महाराज में परिवर्त्तन होगा। जब किसी व्यक्ति में शक्ति की क्षमता होती है, तो बुरे मार्ग से अच्छे मार्ग पर और अच्छे मार्ग से बुरे मार्ग पर जाने में विलब नहीं लगता। महाराज में शक्ति की क्षमता है और वे बुरे मार्ग पर हैं। किसी भयानक भावना से उनके हृदय की दिशा-परिवर्तन संभव है। वे विजय के आकाक्षी हैं। विजय प्राप्त करें,

किन्तु हिंसा से नहीं, अहिंसा से। वे शासन करना चाहते हैं, करें किन्तु क्रोध से नहीं, करुणा से। वे विनाश करें, किन्तु जाति का नहीं, अपनी तृष्णा का। वे ज्ञान-प्राप्ति में प्रयत्नशील हों, राज्य-प्राप्ति मे नहीं। ज्ञान अमर है, राज्य क्षणभगुर है!

तिष्य०—महाभिक्षु, आपका ज्ञान सुनकर हृदय को शाति मिलती है।

उ०—शाति-लाभ करो देवी, यही पथ निर्वाण का है। अच्छा देवी, अब मैं जाऊँगा। [उठ खड़े होते हैं।]

तिष्य०—महात्मन्, आशीर्वाद दीजिये कि राज्य में शाति हो।

उ०—ऐसा ही हो!

तिष्य०—महात्मन, भिक्षा स्वीकार कीजिये। मैं अपने हाथ से लाऊँगी।

[तिष्य भीतर जाती है।]

स्व०—महात्मन्, आपसे एक प्रार्थना करना चाहती हूँ।

उ०—कैसी?

स्व०—महात्मन्, आप चारु को तो जानते हैं?

उ०—हाँ, हाँ, महाराज की सेवा में सतत रहने वाली।

स्व०—आज वह बहुत दुःखी है।

उ०—क्यों?

स्व०—महाराज का उस पर से विश्वास उठ गया है!

उ०—इसलिये कि वह कलिंग-बालिका है?

स्व०—जी हाँ।

उ०—तो उसके लिये उचित तो यही है कि वह महाराज की सेवा और भी सलग्नता के साथ करे। सदेह को सेवा से नष्ट कर दे। वह इस समय कहाँ होगी?

स्व०—महाराज के बाहरी शिविर मे।

उ०—अच्छा, मै उससे मिलता जाऊँगा। उसे सतोष और शाति देकर फिर मैं सघाराम जाऊँगा।

स्व०—भते, बड़ी कृपा होगी आपकी।

उ०—यह तो तथागत की आज्ञा है।

[तिष्य भिक्षा लेकर आती है।]

तिष्य०—मुझे अपने हाथों आपकी सेवा में मधुकरी लाने में विशेष हर्ष होता है भते!

उ०—तुम सुखी रहो देवी!

[तिष्य उपगुप्त को मधुकरी देती है।]

उ०—अच्छा, अब जाऊँगा।

तिष्य०—महात्मन्, प्रणाम।

उ०—सुखी रहो।

तिष्य०—स्वयं, महाभिक्षु को शिविर-द्वार तक पहुँचा दो।

स्व०—जो आज्ञा।

[स्वयं का उपगुप्त के साथ प्रस्थान]

तिष्य०—[सोचते हुए] तिष्य, तेरी दशा एक कीडे की

तरह है, जो ऐसी लकडी में रहता है जिसके दोनों ओर आग लग रही है। तू कहाँ रहेगी ?

[स्वयंप्रभा का प्रवेश]

स्व०—महारानी, भंते जाते समय आपके लिए स्वस्ति-वचन कह गये हैं।

तिष्य०—तथागत को प्रणाम। स्वयप्रभा, या तो मैं संघाराम चली जाऊँगी या वनवासिनी हो जाऊँगी।

स्व०—महारानी, आप शात हों।

तिष्य०—नहीं स्वयप्रभा, अब मुझे इस राज्य-श्री से घृणा हो रही है। उसके सजाने के लिए कितने मनुष्यों की बलि देनी पड रही है। रात-दिन युद्ध की बातें सुनते सुनते जैसे मेरी श्रवण-शक्ति विद्रोह कर रही है। अब मैं और कुछ सुनना नहीं चाहती। देख, इतनी अच्छी वन-श्री है। यहाँ ये पेड और पर्वत कैसे सुख में दीख पड रहे हैं। ये तो किसी से लडने नहीं जाते, किसी का खून नहीं बहाते; लेकिन रातदिन इन पर हरियाली छाई रहती है, फूल खिलते रहते हैं। निर्झर इनके चरणो को धोते रहते हैं। इन्हें किस बात की कमी है ? यह मनुष्य ही रात-दिन न जाने किस सुख के लिए दूसरे का सुख नष्ट करने में जुटा रहता है, खून की नदियाँ बहाता है ?

स्व०—महारानी, जीवन का सत्य यही है।

तिष्य०—और स्वयप्रभा, अगर मैं स्त्री न होकर इसी पास के

पेड़ की एक कली होती, तो आनंद के साथ वसंत के किसी प्रातःकाल मे खिलकर सारे ससार को एक बार हँसती हुई ऑखों से देख लेती और शाम होने पर सूर्य के पीछे-पीछे मैं भी चली जाती। स्त्री होकर—और महारानी होकर—मैं सुखी नहीं हूँ स्वयंप्रभा! जीवन के सत्य से बहुत दूर जो जा पड़ी हूँ।

स्व०—महारानी, आपका हृदय शांत हो।

तिष्य०—स्वयंप्रभा, कैसे शात हो? शाति का उपाय करने के बदले मै अशाति की लहरों में बही जा रही हूँ। पास में कोई कूल-किनारा नहीं है। मालूम होता है युद्ध की समाप्ति होते होते मेरा जीवन भी समाप्त हो जायगा!

स्व०—महारानी, दुखी न हों। ऐसी बातें न करें!

तिष्य०—मैं महाराज के सामने बहुत साहस कर कुछ बातें कहना चाहती हूँ। या तो मैं कह नहीं सकती या महाराज की दृष्टि मुझे कहने नहीं देती। साहस कर दो-एक शब्दो में यदि कुछ कहती भी हूँ, तो महाराज की वीरता की लहर में मेरे शब्द बुद्‌बुद की भाँति बह जाते है।

स्व०—महारानी जी, आप जो कुछ भी कह सकती हैं, महाराज के सामने उतना कहने की शक्ति संसार के किसी भी व्यक्ति में नहीं है।

तिष्य०—किंतु उसका परिणाम कुछ नहीं। स्वयप्रभा, चारु को बुलायेगी?

[नैपथ्य में महाराज अशोक की जय—जय !]

तिष्य०—स्वयप्रभा, रहने दे, किसी को मत बुला। महाराज आ रहे हैं।

[चिंतित मुद्रा में अशोक का प्रवेश। तिष्य प्रणाम करती है। स्वयंप्रभा अधिक झुककर प्रणाम करती है।]

अशोक—देवी, न्याय नहीं हो सका !

तिष्य०—महाराज, उस स्त्री का न्याय ?

अशोक—हाँ देवी, वह स्त्री उसी शिविर मे आत्म-हत्या करके मर गई।

तिष्य०—मर गई ! [करुण स्वर में] आह, बेचारी स्त्री !

अशोक—मैंने पुष्य को आज्ञा दी थी कि वह उस स्त्री को विश्राम-शिविर में ले जाकर खड़ी कर दे। शिविर का प्रत्येक सैनिक उसके सामने आये और वह स्त्री उस सैनिक को पहिचाने, जिसने उसके शिशु की छाती में भाला घुसेड़ दिया था। मुझे ज्ञात हुआ कि १२३ सैनिक घरों मे घुसे थे। उन्हीं १२३ सैनिकों के भाग्य का निर्णय था, किन्तु उस स्त्री ने १७ सैनिकों के आने पर एक बार अपने बच्चे को चूमा, हृदय से चिपटा लिया और अट्ठारहवें सैनिक की कमर से छुरी निकाल कर स्वयं आत्म-हत्या कर ली ! पुष्य उसे रोक नहीं सका और वह खून की नदी मे तडपने लगी। देवी, उसने मेरे न्याय पर विश्वास नहीं किया। उसने मेरी राज्यसत्ता से बढ़कर अपने बच्चे को समझा !

तिष्य०—महाराज, माता का हृदय संसार के किसी वैभव से नहीं तुल सकता। वह सबसे बड़ा है।

अशोक—किंतु माता के हृदय में विशालता भी तो होती है!

तिष्य०—पहले वह अपने बच्चे के लिये होती है महाराज! आप अनुमान कर लीजिये कि इस युद्ध में जितने वीरों की मृत्यु हुई है, उनकी माताओं के हृदय की क्या दशा होगी!

अशोक—मैं देख रहा हूँ देवी! आज एक बच्चे की माँ ने मेरे सारे साम्राज्य को तुच्छ सिद्ध कर दिया!

तिष्य०—महाराज आर्यावर्त्त के सबसे बड़े वीर है।

अशोक—देवी, आज विश्राम-शिविर में जाने पर ज्ञात हुआ कि एक लाख से अधिक सैनिक अभी तक युद्ध में मारे जा चुके हैं, जिनमें बहुत अधिक सख्या कलिंग के सैनिकों की है। तीन लाख सैनिक घायल हुए हैं। उनकी माताओ के हृदय की क्या अवस्था होगी!

तिष्य०—[आश्चर्य और दुःख में] महाराज, चार लाख वीर सग्राम की बलि हुए है!

अशोक—जब कलिंग नरेश को ज्ञात हुआ कि चार लाख वीर इस सग्रामभूमि की बलि हुए हैं, तब उसने यह सधि-पत्र भेजा है। [संधि-पत्र खोलते हुए] आज पाटलिपुत्र की विजय हुई, किंतु देवी उस स्त्री की आत्म-हत्या ने मेरा ध्यान सग्राम में मरे हुए वीरों की माताओं की ओर आकर्षित कर लिया है और

मेरी विजय में जैसे उल्लास के बदले अभिशाप तड़प रहा है ।

[बाहर कोलाहल होता है । "चारु" "चारु" "क्या हुआ," "अभी प्राण शेष हैं," "कहाँ चोट लगी है," "यह कैसे हुआ" "शान्त, शान्त" की आवाज़ आती है ।]

अशोक—[चौंक कर] यह कैसा शब्द ? राजुक !

[राजुक का प्रवेश]

रा०—महाराज, चारुमित्रा का मृत शरीर बाहर है ।

अशोक—[पुनः चौंक कर] चारुमित्रा का मृत शरीर !

तिष्य०—ओह चारु—[सिर झुकाकर बैठ जाती है ।]

रा०—जी हाँ, उन्हें तलवार का गहरा घाव लगा है । आचार्य उपगुप्त उनके साथ हैं ।

अशोक—शीघ्र भीतर लाओ ।

[चारुमित्रा का शरीर लेकर दो प्रहरी आते हैं । साथ में उपगुप्त भी हैं ।]

अशोक—महाभिक्षु को अशोक का प्रणाम ! महात्मन्, यह क्या ! [प्रहरियों से] यह शरीर नीचे रख दो ! ओह, चारुमित्रा ! [प्रहरी शरीर रख देते हैं ।]

तिष्य०—ओह मेरी चारु, मेरी चारु !!

उ०—देवी शात हों । महाराज, यह चारुमित्रा की स्वामि-भक्ति का प्रमाण है ।

अशोक—स्वामिभक्ति ! कैसी स्वामिभक्ति ? अभी जीवित है चारु ?

उ०—महाराज, अभी जीवित तो है, पर वह अचेतावस्था में है ।

तिष्य०—भते, क्या हुआ, क्या हुआ ?

उ०—देवी, शात हो । चारुमित्रा ने आज ससार के सामने यह घोषित कर दिया कि एक नारी में कितनी शक्ति है, कितनी क्षमता है !

अशोक—किस प्रकार भते ?

उ०—मैंने सुना था कि आपने चारुमित्रा पर अविश्वास किया था !

अशोक—हॉ, वह कलिंग की अधिवासिनी थी । अविश्वास होना स्वाभाविक था ।

उ०—किन्तु महाराज उसने बाल्यावस्था से आपकी सेवा की थी और आज उस सेवा से उसने अपने कलिंग को अमर बना दिया ।

अशोक—मै उत्सुक हूॅ भते, चारु के संबंध मे सुनने के लिए ।

उ०—महाराज ! आर्यावर्त्त जानता है कि आपने रक्त की नदी बहाकर कलिंग युद्ध मे कितने वीरों को रण-क्षेत्र में सुला दिया है । आपने रक्त की नदी से कलिंग की भूमि को लाल

बना दिया है। और अब तो आपकी विजय निश्चित है।

अशोक—मैंने विजय प्राप्त कर ली महाभिक्षु, यह संधि-पत्र है।

उ०—महाराज, इस संधि-पत्र से अधिक मूल्यवान चारु का बलिदान है।

अशोक—[आश्चर्य से] बलिदान !

तिष्य०—मेरी चारु ने अपना बलिदान कर दिया ?

उ०—हाँ, महारानी, महाराज के अविश्वास से उसे हार्दिक दुःख हुआ था। आज वह महाराज के बाहरी शिविर में महाराज से आज्ञा लेकर चली जाती और महानदी की लहरों में विश्राम करती, किंतु उसके पूर्व ही उसे विश्राम करने का अवसर मिल गया।

अशोक—किस प्रकार ? शीघ्र बतलाइये।

उ०—महाराज ! यदि चारुमित्रा के चरित्र-गान में कुछ विलंब लग जाय, तो आप धैर्य रक्खे। उसका चरित्र ही ऐसा है। आज चारुमित्रा आपके बाहरी शिविर मे आपके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी, किंतु संभवतः आपके लौटने में देर हुई।

अशोक—हाँ, आज मै शिविरों के निरीक्षण के लिए चला गया था। अभी तक मैं अपने बाहरी शिविर में शयन के लिए नहीं पहुँचा।

उ०—महाराज, उस शिविर मे आप पर आक्रमण करने के लिए कलिंग के कुछ सैनिक छिपे हुए थे। वे संध्या से ही मगध-

सैनिकों के वस्त्र में शिविर में घूम रहे थे। चारुमित्रा को उनपर सदेह हुआ। उसने उनसे बातें कर यह जान लिया कि ये कलिंग के सिपाही हैं।

अशोक—[आश्चर्य से] फिर!

उ०—महाराज, देवी चारुमित्रा ने उन्हें धिकारते हुए कहा—कायरो, तुम लोग मेरे देश कलिंग के नाम को कलकित करने वाले हो! यदि महाराज अशोक को मारना है, तो युद्ध में तलवार लेकर क्यों नहीं जाते? यहाँ चोरों की तरह घुस कर एक वीर पुरुष से छल करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती!

अशोक—चारुमित्रा, तुम धन्य हो! तुम देवी हो!

उ०—महाराज! उन सैनिकों ने चारुमित्रा को लालच दिया, कलिंग की विजय का स्वप्न दिखलाया, किन्तु चारुमित्रा ने कहा—मैं अपने स्वामी से विश्वासघात नहीं कर सकती। मैं देशभक्ति को जितना आदर देती हूँ, उतना ही स्वामिभक्ति को!

अशोक—चारु, तू अमर हो!

उ०—महाराज, चारु निश्चय ही अमर होगी। उसने उन सैनिकों को हट जाने के लिए ललकारा। जब वे नहीं हटे तो कक्ष मे टँगी हुई आपकी तलवार लेकर उसने उन सैनिकों पर आक्रमण कर दिया।

तिष्य०—धन्य चारु, चारु सैनिक भी है!

उ०—हाँ, देवी, दो सैनिक तो घायल होकर भाग गये,

लेकिन एक सैनिक की तलवार चारु के कधे पर लगी और वह गिर पडी। उसी समय मैं पहुँचा, वह कायर वहाँ से भाग कर पास की झाडी में छिप गया। देवी चारु ने अचेत होने से पहले सारी कथा मुझे टूटे-फूटे शब्दों में सुनाई थी।

अशोक—धन्य है चारु, आज तूने अपने देश कलिंग को अमर कर दिया।

तिष्य०—महाराज, मेरी चारु.....

अशोक—महारानी, अधीर मत हो। चारु ने जो कार्य किया है, वह नारी जाति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा। और सुनो देवी, आज से अशोक ने... अत्याचारी अशोक ने युद्ध को सदैव के लिए छोड दिया! [तलवार भूमि पर फेंक देता है।]

सब—महाराज अशोक की जय!

अशोक—महाभिक्षु, आज से मैं विहिंसा किसी रूप में न करूँगा। और देखूँगा कि किसी मनुष्य का रक्त इस पृथ्वी पर न पडे। प्रत्येक स्थान पर, सिंहासन पर, अतःपुर में, विहार में, मैं जनता की सेवा करूँगा। आज से मेरा महान् कर्तव्य होगा कि मैं सब जीवों की रक्षा का अधिक से अधिक प्रबध करूँ।

उ०—देवनामप्रिय प्रियदर्शी महाराज अशोक का कल्याण हो!

अशोक—मेरे आदेशों को शिलालेख के रूप में लिखवा कर समस्त आर्यावर्त में प्रचार कर दो कि अशोक आज से उनकी

रक्षा करने वाला उनका बंधु है।

चारु०—[बेहोशी दूर होने पर] महाराज अशोक की जय!

तिष्य०—ओह, चारु, चारु, मेरी चारु, तू अच्छी है?

अशोक—चारुमित्रा की जय! चारु?

चारु०—महाराज, क्षमा! आपकी आज्ञा थी कि मैं मगध की ओर से तलवारों के साथ भैरवी नृत्य सीखूँ! पूरी तरह नहीं सीख सकी, क्षमा हो!

अशोक—चारुमित्रा, तू पाटलिपुत्र की शोभा है, उसके गौरव की विभूति है!

चारु०—महाराज, आग के अंगारों पर नाचने का अवसर तो आपने नहीं दिया, अब मैंने अंगारों पर अपनी देह रखने का अवसर आप से माँग लिया। [तिष्य से] क्षमा करें, देवी!

तिष्य०—ओह चारु, तू अच्छी हो जायगी।

चारु०—नहीं देवी, (शिथिल स्वर में) महाराज अशोक की जय!

[आँखें बंद कर लेती है। अशोक अवाक् हो चारुमित्रा की ओर देखते रह जाते हैं।]

— पटाक्षेप —

उत्सर्ग

[मार्च १९४२]

There is no death. That seems so is transition,
This life af mortal breath
Is but a suburb of the life elysian,
Whose portals we call death.

Longfellow.

नाटक के पात्र

डा० शेखर—एक महान वैज्ञानिक
विनय— डा० शेखर का सहायक
छायादेवी— डा० शेखर की उपेक्षित प्रेमिका
मंजुल— डा० शेखर की पुत्री (?)
सुधीर— डा० शेखर का सेवक

समय— रात्रि के ७। बजे

[डा० शेखर का अध्ययन-कक्ष। दीवारों पर स्त्री और पुरुष के अनेक रेखा-चित्र सजे हुए हैं। सामने खिड़की, जिसके आधे भाग पर एक नीला परदा पड़ा हुआ है; आधे भाग से आकाश और तारे दीख रहे हैं। एक कोने में टेबुल और कुर्सी। टेबुल पर कुछ पुस्तकें और मासिक पत्र हैं। दूसरे कोने में एक चौकोर तख़्त, जिस पर स्वच्छ वस्त्र बिछा हुआ है। तख़्त से हटकर डा० शेखर का एक 'एपराटस' रखा हुआ है जिसके निर्माण में वे अनेक वर्षों से यत्नशील हैं। 'एपराटस' में लाल और नीली रोशनी के बल्ब लगे हुए हैं। कमरे में दो छोटी आल्मारियाँ हैं जिनमें पुस्तकें सजी हुई हैं, अधिकतर आत्म-विद्या से संबंध रखनेवाली। आर्थर कोनन डायल और आलिवर लॉज के ग्रंथों का रैक भी आलमारी पर रखा हुआ है। कमरे में स्वच्छता और सादगी। जगह-जगह अगर-वत्ती जल रही है जिनसे धुआँ उठकर समस्त वातावरण को सुगंधित कर रहा है। कमरे के बीचोंबीच एक 'मेंटलपीस', जिसपर दो चित्र रखे हुए हैं—एक मंजुल का और दूसरा छायादेवी का। 'मेंटलपीस' के नीचे एक अँगीठी है जिसमें लाल अंगारे दहक रहे हैं। एक ओर खूँटी पर नीला ओवरकोट टँगा हुआ है। उसके नीचे लकड़ी का एक 'पेडास्टल' है। एक 'बेसिन' में अँगरेज़ी के कुछ कटे हुए अक्षर रक्खे हैं। पीछे की ओर लगे हुए लाल बल्ब से वे अक्षर चमक सकते हैं। कमरे में एक क्लाक टँगी हुई है जिसमें सात बजकर पंद्रह मिनट हुए हैं।

जाड़े के दिन हैं। डा० शेखर इस समय भी बाहर जाने के वस्त्र पहने हैं। हल्के हरे रंग का सूट है। उनकी

अवस्था लगभग ४० वर्ष की होगी। लेकिन कार्य करने से वे अधिक आयु के ज्ञात हो रहे हैं। मुख पर कार्यशीलता की रेखाएँ हैं। वे किसी समय सुंदर थे, यह उनके नेत्र और कपोल-गह्वर से ज्ञात होता है। अष्टभुजी शीशे का बेकमानी चश्मा। बाल कुछ अस्त-व्यस्त। टाई की 'नाट' ढीली होकर एक ओर खिसक गई है। मुख पर गंभीरता। और अँगुली में अँगूठी। जैसे उनकी सारी सौंदर्यप्रियता सिमट कर अँगूठी में आ गई है और शरीर गंभीर और शुष्क-सा रह गया है। वे अत्यंत स्पष्ट और धीरे बोलते हैं।

उनके समीप ही उनका असिस्टेंट विनय खड़ा हुआ है। वह एक साधारण सूट पहने है। उसकी उम्र लगभग २५ वर्ष की होगी। वह अत्यंत संजीदे ढंग से बोलता है। कार्य में सावधान और व्यवहार में व्यवस्थित।

डा० शेखर अपने 'एपराटस' के एक भाग को ठीक करने के अनंतर रूमाल से अपना मुख पोंछते हुए आगे बढ़ते हैं।]

शे०—सब लोग इकट्ठे हो गये विनय?

वि०—जी हाँ।

शे०—इस समय कितना बजा होगा?

वि०—[क्लॉक की ओर देखकर] सात बजकर पद्रह मिनट।

शे०—[दुहराते हुए] सात बजकर पद्रह मिनट। विनय, समय तो एक गति से चलता रहता है। नदी के बहाव की तरह। न उसमें घंटे हैं और न मिनट। एक गति है—एक

प्रवाह। हमी लोगों ने उस समय को काट-काटकर टुकडे कर दिये हैं। यह घटा है—यह मिनट है। न कहीं घटा है, न मिनट। क्या? [प्रश्नसूचक दृष्टि]

वि०—जी।

शे०—और इस अनंत समय में हमें लहर की तरह बढ़ना चाहिए। बिना किसी बधन के—बिना किसी रोक के। लेकिन यह शरीर हमे बढने नहीं देता। स्थूल है न?

वि०—जी।

शे०—और अगर हम लोग किसी तरह अपने स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग करना सीख लें तो विनय, जानते हो क्या होगा? [ज़ोर देकर] बोलो, क्या होगा?

वि०—मैं नहीं कह सकता।

शे०—क्या होगा? ये घडियाँ तोड डाली जायँगी—नष्ट कर दी जायँगी! ये क्लाक, ये टाइमपीस, ये पाकेटवाच, ये रिस्ट-वाच, ये बटनवाच। कहीं कुछ न रहेगा।

वि०—जी।

शे०—और हमारा सूक्ष्म शरीर समय से मिल जायगा। वैसा ही गतिशील, वैसा ही प्रवाहशील। जिस तरह रेडियो के संगीत की एक लहर लंदन से चलकर यहाँ मसूरी में उसी क्षण सुनाई पड़ जाती है उसी तरह यह मनुष्य एक लहर बनकर क्षणभर में लंदन पहुँच जायगा। लदन, न्यूयार्क, टोकियो।

सूक्ष्म शरीर से वह विश्वव्यापी हो जायगा। सर्वकालीन, सर्वत्र। समय को काटने-छाँटने की आवश्यकता नहीं रह जायगी।

वि०—जी।

शे०—इस स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर है, इसका पता जानते हो कैसे लगता है?

वि०—बतलाइए।

शे०—इसका पता हमे हमारी साँस से लगता है। यह साँस! देखो यह साँस! [नाक के सामने हाथ ले जाते हैं।]

वि०—जी।

शे०—यह साँस कितने वर्षों से चल रही है! सोते-जागते। रुकने का नाम ही नहीं लेती। क्यों विनय, तुम्हें साँस लेने में कभी थकावट मालूम हुई है?

वि०—जी नहीं।

शे०—कभी तुमने यह सोचा है कि इतने वर्षों से साँस ले रहे हैं, दो-एक दिन आराम कर फिर साँस लेना शुरू करेंगे? एक ही काम करने से थकावट आती है न? 'मानोटनी'। फिर एक ही तरह से साँस लेने में थकावट क्यों नहीं मालूम पड़ती? शरीर के अन्य अवयवों की भाँति साँस लेने में भी थकावट होनी चाहिए!

वि०—इस स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर है।

शे०—हाँ, सूक्ष्म शरीर है—आकाश है।

वि०—जी।

शे०—वह आकाश हमारे शरीर के कण-कण में फैला है। शरीर से घिरे रहने के कारण उसे घटाकाश कह लो। तो जिस तरह आकाश की हवा कभी नहीं रुकती, हमारे शरीर की साँस भी नहीं थकती। जबतक कि उसके बहाव के रास्ते खराब नहीं हो जाते, वह बहती है। बहाव के रास्तों को कभी पुराना न होने दो, हजारों वर्षों तक साँस लो। योगियों का हाल पढ़ा है? नाड़ी-साधन से वे हजारों वर्षों तक जीते थे। उनकी साँस जंगल की हवा के समान स्वतंत्र बहती थी। हजारों वर्षों तक बहती रही और बहती रहेगी। देखो, यह 'एपराटस'। ['एपराटस' के पास जाकर उसकी एक नली छूकर] देखो, यह साँस लेने की ट्यूब है।

वि०—[विनम्रता और संकोच के स्वरों में] यह तो ठीक है लेकिन......आप [रुकते हुए] बाहर जानेवाले थे? साढ़े सात होने जा रहे हैं, सब लोग आपका रास्ता देख रहे होंगे!

शे०—[अस्थिर होकर] ओह! मैं तो बिल्कुल ही भूल गया। यह समय हमेशा काँटे की तरह चुभता रहता है। यह सात बज गये, यह आठ बज गये। विनय, मैं कोशिश कर रहा हूँ कि स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग कर सकूँ और फिर दोनों को जोड़ सकूँ।

वि०—आप सब कुछ कर सकते हैं। आप संसार के बहुत बड़े 'साइंटिस्ट' हैं। लोग आपसे यही तो सीखना चाहते हैं।

शे०—लेकिन मुझे आज फुर्सत नहीं है, विनय। मंजुल छः महीने बाद घर आई है। मेरी बेटी! मेरे भीतर बैठा हुआ पिता का हृदय आज बेटी के पास रहना चाहता है। वह बेचारी छः महीनों के बाद मिली है। मेरी मंजुल।

वि०—अब तो वे यहीं रहेंगी। आप तो उनके साथ सारा समय व्यतीत करेंगे। लेकिन बीस रोज के बाद आपको कुछ फुर्सत मिली है। आपकी खोज के विषय में सुनने के लिए लोग उत्सुक हैं। आपका 'स्टडी सर्किल' उन्हीं पुराने प्रयोगों को कर रहा है। उसे आगे बढने के लिए दो-तीन बातें बतला दीजिए, फिर जल्दी ही लौट आइयेगा।

शे०—कितनी देर लगेगी?

वि०—यही पंद्रह-बीस मिनट। आपकी खोज के विषय मे जानने को लोग कितने उत्सुक हैं! यदि आज आप नहीं गये तो पद्रह-बीस दिनों तक आपको फुर्सत नहीं मिलेगी।

शे०—[सोचते हुए, मन्द स्वर में] हाँ, एक बार काम में लगने पर फिर तो मैं कहीं जा ही नहीं सकता। अब यह खोज, जो मैंने एक महीने में की है, बिल्कुल नई है!

वि०—कौन-सी?

शे०—यही कि अपने 'एपराटस' से मैं मरे हुए व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर को फिर एक आकार दे सकता हूँ। यह 'एपराटस' वर्षों की मेहनत से तैयार हुआ है।

वि०—[आश्चर्य से] ओहः ! यह तो ससार की सबसे बड़ी खोज होगी ।

शे०—जो हो, मैंने मृत्यु के उस पार देखने की कोशिश की है । जीवन का आदर्श ही यही है कि जीवन के उस पार देखा जाय । मृत्यु तो सूक्ष्म जीवन का प्रवेश-द्वार है । मन शरीर से अलग होकर भी कार्य कर सकता है और शरीर के नष्ट होने पर भी वह गतिशील है । तुम्हें आश्चर्य होगा यदि मैं कहूँ कि मृत्यु में पीड़ा नहीं है । मृत्यु तो जीवन का एक मोड़ है । जिस प्रकार एक चौड़ा रास्ता जंगल में एक पगडडी होकर छिप जाता है और हमें नहीं दीख पड़ता उसी प्रकार मृत्यु के बाद जीवन-पथ भी रहस्य के वन में प्रवेश कर जाता है । सूक्ष्म शरीर तो स्थूल शरीर का निखरा हुआ रूप है । जैसे सूर्यमडल से दिन फैला हुआ है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से यह स्थूल शरीर है । यह सूक्ष्म शरीर हमसे वैसा ही जुडा है जैसे रात्रि के अंतिम प्रहर से दिन । आज का विज्ञान सिर्फ 'मैटर' की खोज करता है, 'स्पिरिट' की नहीं । मैंने 'स्पिरिट' की खोज की है ।

वि०—[आश्चर्य से] आपने बहुत बड़ा काम किया ।

शे०—मैं जब तक मृत्यु का पूरा रहस्य ससार को न बतला दूँगा तब तक आराम नहीं करूँगा ।

वि०—आप महापुरुष हैं । आप ससार का बहुत उपकार करेंगे ।

शे०—उपकार होगा—ऐसा मेरा भी विश्वास है। मेरी खोज एक दीप-स्तंभ होगी जो भटकती हुई आत्माओं की जीवन-नौका का पथ-प्रदर्शन करेगी।

वि०—[सौम्य हँसी के साथ] अभी तो आप हम लोगों का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। तो आप अभी चलेंगे ? मैं 'स्टडी सर्किल' को क्या सूचना दूँ ?

शे०—[सोचते हुए] अच्छा, चल रहा हूँ। फिर न जाने कब अवकाश मिले ! लेकिन इस समय मैं केवल 'क्लेयरवायंस' की कुछ बातें ही बतला सकूँगा। समय मेरे पास कम है।

वि०—[नम्रता से] जैसी आपकी इच्छा।

शे०—[निश्चय के साथ] अच्छा, तो मैं फिर चलता हूँ। तुम जाकर उन लोगों से कह दो कि मैं आ रहा हूँ। और ड्राइ-वर से कहना कि मोटर लाये।

वि०—बहुत अच्छा। [प्रस्थान]

[डाक्टर शेखर कुछ देर तक अपना 'एपराटस' देखते हैं फिर टेबुल पर पड़े हुए कुछ काग़ज़ उठाकर भौंहें सिकोड़े हुए पढ़ते हैं। निश्चयात्मक ढग से सिर हिलाकर कोट पहनते हैं। ऑलिवर-लाज की एक पुस्तक खोजकर निकालते हैं और पृष्ठ उलटते हुए पढ़ते हैं। फिर उस पुस्तक में काग़ज़ का निशान लगाकर मंजुल को पुकारते हैं।]

शे०—मंजुल !

["आई, पिताजी" की आवाज़ । मंजुल का प्रवेश । सोलह वर्षीया युवती । देखने में सरल और सुंदर । क्रीम रंग की साड़ी जिस पर नीला बार्डर । उससे उसका गौरवर्ण और भी निखर आया है । माथे में छोटी लाल विंदी । चकित हरिणी की भाँति कमरे में प्रवेश करती है ।]

शे०—मजुल ! तू क्या काम कर रही थी ?

मं०—पिताजी, सितार पर नये तार चढ़ा रही थी । मैं तो समझती थी कि मेरे जाने के बाद आप सितार सम्हाल कर रक्खेंगे लेकिन आपने मेरी तरह मेरे सितार को भी भुला दिया ।

शे०—वाह, तो क्या तेरा सितार तेरी तरह ही है ?

मं०—और नहीं तो क्या ! सितार पर नये तार चढ़ाकर आ रही हूँ—देखिए, मेरी बोली में खुशी का राग है या नहीं ?

शे०—और अगर कोई तार टूट जाय तो ?

मं०—पिताजी, मेरा मन टूट जायगा । मैं बोल भी नहीं सकूँगी ।

शे०—ओहो, कविता भी करने लगी !

मं०—मैं कविता कैसे कर सकती हूँ ? आजकल की कविता के लिए उच्छ्वास, वेदना, आँसू की आवश्यकता होती है, सो यह सब मेरे पास नहीं है । मैं तो खुश रहना जानती हूँ ।

शे०—अच्छी बात है । मेरी खोज खतम हो जाय फिर तेरे सितार और तेरी आवाज की तरंगों का कम्पन निकाल कर मिलान

करूँगा, एक कंपन से दूसरे कपन को कहाँतक सहायता मिलती है।

मं०—आपकी खोज में हम दोनों कहीं रेडियो न बन जायँ।

शे०—कोई बुरी बात तो होगी नहीं। तू यहाँ से चली जायगी तब भी मैं तेरी आवाज सुन सकूँगा।

मं०—[भारी आवाज़ में] आप तो यही चाहते हैं कि मैं यहाँ से चली जाऊँ तो अच्छा है।

शे०—[मनाते हुए स्वर में] वाह, तू यह क्या कहती है ? तेरे जाने के बाद इन छः महीनों में मेरी क्या हालत रही, यह मैं ही जानता हूँ। प्यारी बेटी, जैसे मेरा सुख अपने साथ ही ले गई। काम से लौटने पर जब तेरी याद आती थी तो मालूम होता था जैसे किसी ने मेरे घर से सारी हवा खींच ली है और मेरा दम घुट रहा है। लाचार होकर तेरी याद भूलने के लिए फिर काम में लग जाना पडता था।

मं०—तो इस बहाने आपका काफी काम हो गया।

शे०—[बेवसी के स्वर में] हाँ, हो तो गया पर मेरी बेटी मजुल के बिना तो मैं जैसे खुद एक एपराटस बन गया। सच्च कहता हूँ बेटी, तेरे बिना मुझे अपनी जिंदगी भी अच्छी नहीं लगती।

मं०—तो अब तो आप मुझे कहीं नहीं भेजेंगे ?

शे०—कहीं नहीं। तू तो खुद अपनी माँ की सहायता के

लिए नौकरों को साथ लेकर पुरी चली गई, नहीं तो क्या मैं तुझे जाने देता ? तेरी इच्छा देखकर मैं चुप हो गया, नहीं तो क्या मैं अपनी बेटी को कहीं जाने देता ?

मं०—तो आप अभी कहाँ जा रहे हैं ?

शे०—मैं थोड़ी देर के लिए बाहर जा रहा हूँ। अभी आ जाऊँगा ! [वात्सल्य से] मञ्जुल, अभी आ जाऊँगा।

मं०—[मुँह बनाकर दुलार के स्वर में] पिताजी, मैं भी साथ चलूँगी।

शे०—साथ चलेगी ? अच्छा, चल। [सोचकर] लेकिन... नहीं, तू मत चल।

मं०—छः महीने बाद आई हूँ। फिर भी साथ न चल।

शे०—मैं तुझे अपने साथ ज़रूर ले चलता। लेकिन मंजुल, मैं 'स्टडी सर्किल' में जा रहा हूँ।

मं०—कैसा स्टडी सर्किल ?

शे०—मैंने जो खोजे की हैं उनके भिन्न-भिन्न रूपों पर काम करने के लिए मेरे कुछ विद्यार्थी हैं। उन्हे आगे की बातें बतलानी हैं। मेरा असिस्टेंट खबर देने गया है कि मैं आ रहा हूँ। तब तो जाना ही पडेगा !

मं०—मेरे साथ जाने से क्या आपका जाना रुक जायगा ?

शे०—[समझाते हुए] रुक तो नहीं जायगा। लेकिन देख, यह मेरा 'एपराटस'। इसे मैंने वर्षों की मेहनत से तैयार

किया है। अगर इसमें कुछ गडवड हो जाय तो मंजुल, मेरी सारी मेहनत खराब जायगी। यह मेरे सारे जीवन की तपस्या है। मैं इसका एक कार्क भी इधर से उधर होना नहीं देख सकता। तू यहीं रह। मेरे 'एपराटस' के पास। मैं खुद इससे अलग होना नहीं चाहता। कहीं तेरी पूसी उछल कूदकर कुछ तोड़-फोड दे तो मैं कहीं का नहीं रहूँगा। मजुल, मेरी सारी मेहनत बेकार जायगी।

मं०—[बुरा मान कर] आप मेरी पूसी को गाली क्यों देते हैं? वह ऐसी शैतान नहीं कि आपका 'एपराटस' तोड दे। वह भी तो एक वैज्ञानिक है। खोज में लगी रहती है—दूध दही जैसी पवित्र वस्तुओं की। 'एपराटस' के पास जाने से उसे अपनी चीज़ तो मिलेगी नहीं।

शे०—[हाथ जोड़ कर] धन्य है तेरी पूसी! लेकिन मेरा 'एपराटस'......

मं०—[बीच ही में] आपका 'एपराटस'! इससे होता क्या है?

शे०—मजुल, इस 'एपराटस' से मैं क्या नहीं कर सकता? इसके द्वारा मैं मरे हुए आदमी के सूक्ष्म शरीर को एक आकार दे सकता हूँ।

मं०—[कुछ शंकित होकर] मरे हुए आदमी!

शे०—हाँ, मरे हुए आदमी से बातें कर सकता हूँ।

मं०—बातें कर सकते हैं?

शे०—हाँ, यह काम संसार के किसी वैज्ञानिक ने नहीं किया ! मेरे हाथों यह पूरा होना चाहता है ! मैंने मनुष्य की मृत्यु का रहस्य खोज लिया है ! मरने के बाद यह बोलने वाली चीज़ क्या हो जाती है !

मं०—मैं छः महीने बाहर रही। मुझे क्या पता था कि पिताजी ने संसार को ही बदल दिया है। अबकी बार छः महीने बाहर रहूँ तो आप शायद किसी को मरने भी न दें।

शे०—लेकिन मरने में क्या बुराई है ? मैंने तो यह सिद्ध कर दिया है कि जो मर गये हैं वे वास्तव मे मरे हुए नहीं हैं।

मं०—[अधिकारपूर्वक] तब तो मैं भी यही सिद्ध करूँगी कि जो जी रहे हैं, वे वास्तव में नहीं जी रहे हैं।

शे०—शैतान लड़की ! तू हँसी समझती है ! लेकिन यह तय बात है कि मृत्यु का रहस्य खोलने के बाद मृत्यु का भय जाता रहेगा। मृत्यु तो वैसी ही है जैसे मैं अपना कोट उतार कर अलग रख देता हूँ। और तब हमारा वास्तविक मनुष्य शरीर की सीढ़ी से उतर कर सच्चे ससार में प्रवेश करता है। इससे जानती है क्या होगा ?

मं०—[कौतूहल से] क्या होगा ?

शे०—जितने रोनेवाले हैं उन्हें सुख और संतोष मिलेगा।

मं०—तब तो सुख और संतोष पाने के लिए रोना ज़रूरी है।

शे०—[अधिकार के स्वर में] मैं तुझसे बात नहीं करूँगा, मंजुल ! तू बहुत नटखट हो गई है।

मं०—अच्छा पिता जी, अब मैं बहुत गंभीर बन जाऊँगी। अब नहीं हँसूँगी।

शे०—[सौम्य भाव से] हँसने से तुझे कौन रोकता है ? मैं यही तो सिद्ध करना चाहता हूँ कि यह जीवन सदैव हरा-भरा है। सुंदर है, मधुर है जैसे चाँद की हँसी, फूल की सुगंधि, पक्षी का कलरव। नदी की लहर जो हमेशा आगे बढ़ना जानती है। फैलती है, तो जैसे पलक खुल रही है ! और वह पल भर में संसार का तट छू लेती है।

मं०—ठीक है पिताजी, लेकिन फिर संसार के लोग रोते क्यों हैं ?

शे०—मूर्ख हैं वे। मरने का अर्थ नहीं जानते ! मरने के बाद मनुष्य स्वतन्त्र हो जाता है। वह अच्छे कार्य अच्छे ढंग से कर सकता है।

मं०—सचमुच ?

शे०—मैंने यंत्रों की सहायता से मरे हुए लोगों से बातें की हैं। वे लोग मेरे पास आये हैं। इसी घर में—इसी जगह !

मं०—आपको डर नहीं लगा ?

शे०—मैं मंजुल तो हूँ नहीं जो डर जाऊँ ?

मं०—लेकिन पिताजी, मरे हुए लोगों से बातें करने में कैसा लगता है ?

शे०—बहुत अच्छा ! जैसा तुझसे बातें करने में लगता है।

मं०—वाह, तब तो मेरे मरने और जीने में अंतर ही नहीं रह गया !

शे०—अंतर क्या है, शरीर की रेखा मिट जाय तो यह संसार और वह संसार एक ही है। शरीर तो जैसे एक भीगा कपड़ा है जो आत्मा से लिपट गया है। और अवसर मिलते ही आत्मा उस शरीर को फेककर अपने सच्चे तेज में आ जाती है। या यों समझ लो कि एक शैतान बालक की तरह आत्मा शरीर के दरवाजे को खोलकर बाहर निकल भागती है। इसीको मरना कहते हैं।

मं०—मैं तो मरने से बहुत डरती हूँ। मरते समय जी न जाने कैसा होता होगा !

शे०—बहुत अच्छा लगता है। जीव की सारी चिंताएँ छूट जाती हैं। मालूम होता होगा जैसे किसी पानी भरने वाली ने घर पहुँच कर अपने सिर का घड़ा उतार कर नीचे धर दिया है। या जैसे पुजारी मंदिर में पहुँच गया है। तभी तो इन आत्माओं से बात करने मे अच्छा लगता है। हाँ, जो आत्महत्या करके मरता है, वह अपनी गति में पिछड़ जाता है और वह अपने सूक्ष्म संसार में एक पत्थर की तरह गिरता है। मैंने सूक्ष्म शरीरों से बात करके यह जान लिया है।

मं०—मैं तो मरे हुए आदमी से बातें भी न करूँ। जाने कैसे होते होंगे वे लोग ! हवा की तरह—धुआँ की तरह !

शे०—बहुत कुछ इसी तरह ! लेकिन अपने एपराटस से मैंने उन्हें ऐसा रूप दिया है कि कोई पहिचान ही नहीं सकता कि वे मरे हुए हैं या ज़िन्दा हैं। ऐसा मालूम होता है कि वे हमारे प्रतिदिन के मिलने वालो में से ही है।

मं०—[आश्चर्य से] अच्छा, देखने में कुछ अतर ही नहीं मालूम होता ! यह कैसे होता है ?

शे०—यही तो मेरी खोज है !

मं०—ओह, बड़ी विचित्र खोज है ! आपने मेरी उत्सुकता और बढ़ा दी है ! अच्छा, आप अपने स्टडी सर्किल से......

शे०—[बात काटकर] ओह, मैं तो जाने की बात बिलकुल ही भूल गया ! तूने अच्छी याद दिलाई ! सब लोग मेरा रास्ता देख रहे होंगे !

मं०—तो फिर आप जल्दी लौट आयँगे ?

शे०—हाँ, यही २०-२५ मिनट में। मोटर में क्या देर लगती है ! दस मिनट आने-जाने के समझ लो और पंद्रह मिनट बात करने के।

मं०—जल्दी ही आ जाइएगा !

शे०—अच्छी बात है। तो फिर मैं जाता हूँ। तुम एपराटस देखती रहना।

[मंजुल स्वीकारात्मक सिर हिलाती है। डा० शेखर जाते हैं।]

मं०—[पुकार कर] पिताजी ?

शे०—[लौटते हुए] क्या है ?

मं०—[हँसते हुए] आपने सूट तो पहन रक्खा है। लेकिन मोजे तो पहने ही नहीं।

शे०—[लज्जित स्वर में अपना पैंट कुछ ऊपर उठाते हुए] अरे, मैं तो भूल ही गया ! सब बातें भूल जाता हूँ। ख़ैर, यों ही चला जाऊँगा ! [सोचकर]......अच्छा, लाओ पहिन लूँ।

मं०—आपने कहाँ रख दिए हैं ?

शे०—देख लो, यहीं कहीं होंगे। मेज़ या कुर्सी पर !

मं०—मेज़ या कुर्सी पर। घर में बहुत सी खूटियाँ तो हैं। या फिर वार्डरोब में रख दिया कीजिए।

शे०—अब रख दिया करूँगा। अभी तो यहीं देख लो।

मं०—देखती हूँ। [मंजुल कुर्सी के गद्दे हटाकर और टेबुल के काग़ज समेट कर देखती है।]

शे०—जाने कहाँ रख दिये हैं ! [चारों ओर दृष्टि फेंकते हैं। कभी अपना सिर खुजलाते हैं। कभी कमर पर हाथ रखते हैं। यकायक चौंककर] अरे, ये तो मेरे कोट के जेब में हैं। कमर पर हाथ रखा तो जेब में कुछ मालूम हुआ ! [निकालते हुए] ये हैं मोजे [फटे हुए मोज़े निकालते हैं।]

मं०—वाह, कितनी अच्छी जगह है मोजे रखने की। आपका कोट तो एक चलता फिरता वार्डरोब है !

शे०—भूल जाता हूँ मंजुल। कामके ध्यान में मैं अपने आपको भूल गया हूँ।

मं०—पिताजी, मैंने एक पुस्तक में पढा था कि एक वैज्ञानिक महोदय ने कोट के ऊपर कमीज पहन लिया था।

शे०—[अपनी ओर देखते हुए] मैंने तो नहीं पहना ? [स्वस्थ होकर] नहीं, मेरा कोट ठीक है। [कोट के बटन खोलकर] और कोट के नीचे यह कमीज है।

मं०—[हँसती हुई] नहीं, आपका कोट-कमीज तो अपनी जगह पर है। लेकिन लाइए मैं आपको मोजे पहिना दूँ। कहीं आप भूल से इन्हें पैर के बजाय हाथों में न पहन लें।

शे०—[भौंहें कसते हुए] तू मुझे चिढ़ाती है, शैतान लड़की ? जा, मैं पहन लूँगा। [डा० शेखर जूते के ऊपर मोज़े पहनने लगते हैं।]

मं०—[हँसी रोक कर] पिता जी, मोजे की रगड़ से कहीं जूता फट न जाय।

शे०—[जूते के ऊपर से मोज़ा खींचते हुए तथा भूल स्वीकार करते हुए] ओह, मजुल ! मेरे साथ तेरा रहना बहुत जरूरी है। [जूता उतार कर मोज़ा पहनते हैं। फिर थोड़ी देर जूते की ओर देखते हैं। जूतों को उठा कर बदलते हैं, कि कहीं उलटे तो नहीं पहन रहे हैं। फिर सावधानी से पहन कर जाते हैं।]

शे०—[जाते हुए] मजुल, थोड़ी देर में आता हूँ। [प्रस्थान]

सु०—सरकार, चालू होत बखत तो यहि क देखे ते डिर लागत है। कर घुमाय देई त बिजुरी अस चमचमाय उठत है। ए करे जराये मा माचिस क जरूरत नाहीं पडत। औ ऊ बड़का लोटा अस [संकेत करता है] जो बना है, ओहि मा लाल पानी पहले तो सनसनात है, ओहि के बाद खदबदाय के ऊपर चढ़ जात है। औ जादू अस बलकन लागत है। फुन खाल पाय कै कबहूँ ई कोने मा कबहूँ ऊ कोने मा बिलाय जात है।

मं०—इससे होता क्या है?

सु०—[हाथ उठाकर कान पकड़ते हुए] अब ई तौ सरकार हम कहि नाहिं सकत। बडे सरकार आप आँखी मूँद कै बईठ जात हैं औ कुछ कहै लागत हैं। हम ते कहि देत हैं—सुधीर, हिंयन ते तुम जाओ।

मं०—सुधीर, पिताजी कहते है कि आदमी मर के भी नहीं मरता।

सु०—अब सरकार ई तौ हम जानत नाहीं। हाँ, मुदा सरकार जब ते बड़े सरकार ई खटोला अस ईपाराटुअस बनाइन हैं तब ते ओही बात ऊ निकाल लिहे होई। सरकार, बड़े सरकार माँ तो बिद्या अस समाय गई है जईसे स्याही सोख माँ सियाही।

मं०—[हँसकर] जा तू कुछ नहीं जानता।

[मंजुल 'एपराटस' के भागों को देखती है। एक स्विच दबाने से लाल बल्ब जलता है, उसके साथ ही हरा बल्ब भी जल

मं०—[डा० शेखर के जाने की दिशा मे देखती हुई] संसार के विद्वान संसार के सब से सरल आदमी होते हैं। [लौटती है। पुकारकर] सुधीर !

[सुधीर नौकर का प्रवेश।]

सु०—सरकार !

मं०—एक गिलास पानी।

सु०—अच्छा सरकार, मीठा ले आई !

मं०—नहीं, सिर्फ पानी।

सु०—बहुत अच्छा सरकार ! [जाता है।]

मं०—[यहाँ वहाँ देखती हुई 'एपराटस' के पास जाती है।] यह है, एपराटस ! जाने कैसा कैसा है ! [हाथ से ग्लास ट्यूब्स छूती है।]

[सुधीर पानी लेकर आता है। मंजुल पानी पीती है]

मं०—[रुमाल से मुँह पोंछती हुई] तू जानता है सुधीर, यह ['एपराटस' की ओर संकेत करती है] क्या है !

सु०—[उत्साह से] सरकार ई ईपारटुअस है। एहि मा तो सरकार अस करतब किहे हैं कि भगवानौ नाहीं कर सकत। [गर्व से] ई बात है ! आप तो छै महीना मां आई हन। एहि का तमासा आप अबहिन जानत नाहीं। येहि का तमासा तो सरकार हम देखिन हैं। [गर्व की मुद्रा]

मं०—जू जानता है, यह कैसे काम करता है ?

सु०—सरकार, चालू होत बखत तो यहि क देखे ते डिर लागत है। कर घुमाय देई त बिजुरी अस चमचमाय उठत है। ए करे जराये मा माचिस क जरूरत नाहीं पडत। औ ऊ बड़का लोटा अस [संकेत करता है] जो बना है, ओहि मा लाल पानी पहले तो सनसनात है, ओहि के बाद खदबदाय के ऊपर चढ़ जात है। औ जादू अस बलकन लागत है। फुन खाल पाय कै कबहूँ ई कोने मा कबहूँ ऊ कोने मा बिलाय जात है।

मं०—इससे होता क्या है ?

सु०—[हाथ उठाकर कान पकड़ते हुए] अब ई तौ सर-कार हम कहि नाहिं सकत। बड़े सरकार आप आँखी मूँद कै बईठ जात हैं औ कुछ कहै लागत हैं। हम ते कहि देत हैं—सुधीर, हिंयन ते तुम जाओ।

मं०—सुधीर, पिताजी कहते हैं कि आदमी मर के भी नहीं मरता।

सु०—अब सरकार ई तौ हम जानत नाहीं। हाँ, मुदा सरकार जब ते बड़े सरकार ई खटोला अस ईपाराटुअस बनाइन हैं तब ते ओही बात ऊ निकाल लिहे होईं। सरकार, बड़े सरकार माँ तो विद्या अस समाय गई है जईसे स्याही सोख माँ सियाही।

मं०—[हँसकर] जा तू कुछ नहीं जानता।

[मंजुल 'एपराटस' के भागों को देखती है। एक स्विच दबाने से लाल बल्ब जलना है, उसके साथ ही हरा बल्ब भी जल

उठता है। लाल बल्ब तो थोड़ी देर बाद बुझ जाता है, हरा जलता रहता है।]

मं०—[अन्यमनस्क होकर] कुछ समझ में ही नहीं आता। पिताजी से पूछूँगी। ['एपराटस' के पास से हटकर] जा, सुधीर जरा मेरा सितार ले आ। पिताजी के आने तक उसी को बजाऊँ।

सु०—सरकार, ऊ टुनटुन करै वाला।

मं०—[हँसकर] हाँ रे वही। [सुधीर जाता है।] मेहनती है पर बेवकूफ। पिताजी के पास ऐसे आदमियों की गुजर अच्छी हो जाती है। [सुधीर सितार ले के आता है।]

सु०—सरकार, ई बिजुरी क तार तो न होय !

मं०—बिजली का तार ! बेवकूफ। जा अंदर बैठ। सब बातों मे इसे बिजली सूझती है। [सुधीर चला जाता है।]

[मंजुल कमरे के बीचोंबीच आकर सितार ठीक करती है फिर तख्त पर बैठकर थोड़ी देर बजाती है। दरवाज़े पर खट्खट् की आवाज़ होती है।]

मं०—[सितार बजाना बंदकर] कौन है ?

बाहर से शब्द—मैं हूँ छायादेवी !

मं०—[प्रसन्नता से उठकर सितार कोने में रखते हुए] ओह, आई ! आ जाइए, दरवाजा खुला हुआ है।

[एक ३५ वर्षीया स्त्री का प्रवेश। गौरवर्ण। सफ़ेद सारी पहने हुए है। मुखमुद्रा गंभीर।]

मं०—नमस्ते। आइए, बैठिए।

[छायादेवी नमस्कार कर बैठती है। पास की कुर्सी पर मंजुल भी बैठ जाती है।]

छा०—तुम सितार बजा रही थीं। मुझे संगीत बहुत अच्छा लगता है। सुनकर यहीं चली आई।

मं०—[संकुचित होकर] अच्छा, मैं इतना अच्छा बजा लेती हूँ!

छा०—फिर मैंने सोचा, चलो तुम्हे देख आऊँ! मालूम हुआ, तुम आ गई हो।

मं०—हाँ, कल रात ही आई हूँ। बाबूजी ने लिखा था कि तुम्हे देखने की इच्छा है। चली आई। बाबूजी मुझे बहुत प्यार करते हैं।

छा०—मैं जानती हूँ।

मं०—[उत्सुकता से] आप कैसे जानती हैं?

छा०—यों ही। तुम तो छः महीने बाद आई हो।

मं०—हाँ, ठीक छः महीने बाद।

छा०—तुम्हारी माँ तो अच्छी तरह से है?

मं०—हाँ, अच्छी तरह हैं। बीच में उनकी तबीयत कुछ खराब हो गई थी। पुरी के सभी बड़े-बड़े वैद्यों और डाक्टरों को बुलाना पड़ा। लेकिन सभी बातों की व्यवस्था पिताजी ने कर दी थी। ओह, पिताजी हम लोगों को थोड़ा भी कष्ट नहीं होने देते।

वे तो जैसे हम लोगों की इच्छा पहले ही जान लेते हैं। कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती !

छा०—तुम्हारी माताजी नहीं आईं ?

मं०—वे भी आनेवाली थीं। लेकिन पुरी की आबहवा से उन्हें बड़ा फ़ायदा हुआ। वे अब पन्द्रह-बीस दिनों में आ जायँगी। उनके पास पिताजी ने चार नौकरों की व्यवस्था कर दी है। कोई कष्ट नहीं है। हाँ, आजकल आप यहीं हैं ?

छा०—मुझे इस जगह से कुछ मोह सा हो गया है। कुछ दिनों के लिए बाहर जाती भी हूँ तो फिर लौटने की तबीयत हो आती है।

मं०—छः महीने पहले जब मैं आपसे मिली थी तो आप कह रही थीं कि हृषीकेश जाऊँगी। फिर आप गईं थीं ?

छा०—मैं तो हो भी आई। चार-पाँच दिन हुए लौटी हूँ। बहिन का इम्तहान है न ? बेचारी बड़ी चिंता में है। उसकी वजह से जल्दी ही लौटना पड़ा।

मं०—क्या करूँ, मेरी भी इच्छा है कि मैं हृषीकेश देख आऊँ। पिताजी कहते थे बड़ी अच्छी जगह है। वे तो कई बार वहाँ हो आए। कैसी जगह है ?

छा०—बहुत अच्छी। गंगाजी की पवित्र धारा बहती है जैसे स्वर्ग पानी बनकर बह रहा है। जब मैं उसमें स्नान करती हूँ तो मालूम होता है, मेरे सारे शरीर में गंगाजल ही बह रहा है।

और प्रकृति के दृश्य तो ऐसे हैं जैसे ईश्वर ने समुद्र की हरी लहरों को तरतीब के साथ गूँथकर सजा दिया है। तुम देखो तो यहाँ आना भूल जाओ। वहाँ जाने की तुम्हारी भी इच्छा है?

मं०—हाँ, बहुत।

छा०—तो अभी तो नहीं। चार महीने बाद तुम्हें ले चलूँगी। मेरे साथ चलना।

मं०—जरूर। पिताजी भी चलेंगे।

छा०—वे कैसे चल सकते हैं? उन्हे अभी बहुत काम करना है। पिछले दो बरसो से तो वे कहीं गए ही नहीं।

मं०—अच्छा, तब मैं ही आपके साथ चलूँगी।

छा०—जरूर।

मं०—बहुत अच्छा हुआ। आपसे अकस्मात् मिलना हो गया। मैं तो आपके यहाँ आनेवाली थी।

छा०—कोई बात नहीं। मैं ही चली आई। तुम्हारे कमरे का हरा बल्ब दूर से ही दीख रहा था। मालूम होता था जैसे शुक्र तारा चमक रहा है। मैं यहाँ से जा रही थी। सोचा, शायद डाक्टर साहब हों। लेकिन तुम मिल गई। शायद डाक्टर साहब नहीं हैं।

मं०—नहीं, वे अपने 'स्टडी सर्किल' में गए हैं। बस, अब आनेवाले ही होंगे। पिताजी ने न जाने कितने तरह के 'एपराटस' बनाए हैं। किसी में लाल उजेला होता है किसी में हरा। मैं तो

छः महीने बाद आई हूँ। मुझे कुछ मालूम ही नहीं। सैकड़ो नई बातें खोजकर निकाली हैं। कहते हैं, मरने के बाद आदमी मरता ही नहीं। मैं तो हैरत में हूँ।

छा०—ठीक कहते हैं।

मं०—आप भी यह मानती हैं?

छा०—मानना कैसा। यह तो सही है। हमारे ऋषि-मुनि तो इसी साधना में सैकड़ों ग्रंथ लिख गये हैं।

मं०—कहते हैं, मरने मे कोई तकलीफ ही नहीं होती।

छा०—कपड़े बदलने में क्या तकलीफ होती है!

मं०—आप भी पिताजी जैसी बातें कहती हैं। हमेशा मिलती रहती हैं! रोज रोज की बातों का कुछ असर तो होता ही है।

छा०—जो समझो।

मं०—जाने दीजिए इन मरने जीने की बातों को। आप कुछ जलपान करेंगी?

छा०—नहीं, कुछ आवश्यकता नहीं है। अच्छा, तो अब मैं जाऊँगी।

मं०—वाह, अभी आई और अभी चलीं! पिताजी से तो मिली ही नहीं।

छा०—फिर कभी मिल लूँगी। उनसे कभी कभी तो मिलना हो ही जाता है।

मं०—कुछ देर और ठहरिए ना।

छा०—नहीं, अब और नहीं ठहर सकूँगी। बस, तुम्हे देख लिया। तुमसे मिलना भी चाहती थी। फिर कभी आऊँगी।

मं०—अच्छी बात है। कभी कभी आ जाया कीजिए।

छा०—हाँ, अवश्य। अच्छा, नमस्ते।

[छायादेवी नमस्कार करके जाती हैं। मंजुल दरवाज़े तक पहुँचा कर लौटती है।]

मं०—[स्वगत] छायादेवी! पिताजी के बहुत निकट आकर भी बहुत दूर! [सितार को उठाकर] अब नहीं बजाऊँगी। [पुकारती है] सुधीर!

[सुधीर का प्रवेश]

मं०—सुधीर, ले जा, अब सितार नहीं बजाऊँगी। देख, सम्हालकर रखना!

सु०—सरकार, सब ते अच्छा तो हरमुनियॉ होत है। उठाय के बकस में रख लेय तो मालूमै न होय कि ई बाजा है। और सितार तौ काँधे पै सींग अस उठा रहत है।

मं०—[कडे स्वर में] जा, शोर मतकर।

[शीघ्रता में डा० शेखर का प्रवेश। कोट कधे पर और अस्तव्यस्त वेश-भूषा। सुधीर चला जाता है।]

शे०—[आते ही] मजुल, मैं जल्दी आ गया। मेरा मन ही आज नहीं लगा। 'स्टडी सर्किल' में कुछ बोलकर चला

आया। बस दो चार बातें ही कहीं। ज्यादा नहीं कह सका। तू जो यहाँ बैठी थी।

मं०—कोट पहिनने का समय भी नहीं मिला!

शे०—[कोट की ओर देखकर] हाँ, कोट उतारकर प्रयोग बतला रहा था। चलते समय यों ही उठाकर रख लिया।

['एपराटस' की ओर देखकर] अरे यह वल्व कैसे चल गया!

क्या तू 'एपराटस' देख रही थी? [जाकर वल्व 'आफ़' करते हैं।]

मं०—हाँ, यों ही देख रही थी। मैं तो कुछ जानती भी नहीं।

शे०—अच्छा, मेरे जाने के बाद कोई आया तो नहीं था।

मं०—आई थीं, छायादेवी जी!

शे०—[आश्चर्य से] छायादेवी!

मं०—हाँ, छायादेवीजी, मेरा सितार सुनके आ गईं थीं। छः महीनों से मुझे देखा नहीं था। इसीलिए चली आई थीं। मैंने उनसे आपके आने तक रुकने के लिए कहा था लेकिन वे चली ही गईं!

शे०—तुम सितार...सितार बजा रही थीं।

मं०—हाँ, क्या करती बैठी बैठी। लेकिन आपको आश्चर्य क्यों हो रहा है!

शे०—मंजुल...मंजुल!

मं०—कहिए पिताजी!

शे०—छायादेवी...छायादेवी तो दो महीने पहले मर गई।

मं०—[आश्चर्य विह्वल] मर...गई ?

शे०—हाँ, तुम बाहर थीं। तुम्हें क्या पता ! दो महीने पहले उन्हें टाइफ़ायड हुआ। उसी में उनकी मृत्यु हो गई !

मं०—[दु ख और आश्चर्य से] मृत्यु हो गई !!

शे०—हाँ, बेचारी छायादेवी !

मं०—तो फिर वे यहाँ कैसे आ सकती है ?

शे०—और कोई तो नहीं आया ?

मं०—क्या मैं छायादेवी को पहचानती नहीं। मेटलपीस पर उनका चित्र सैकड़ों बार देखा है ! मिलना भी बहुत बार हुआ है।

शे०—[सोचते हुए धीरे-धीरे] छा.. या...दे...वी...!

मं०—लेकिन मरने के बाद वे कैसे यहाँ आ गई ?

शे०—['एपराटस' की ओर संकेत करते हुए] इसी 'एपराटस' के सहारे। यह जो हरा बल्ब है, यह प्रेतात्माओं को अपनी ओर खींचता है। इसी से खिचकर छायादेवी का सूक्ष्म शरीर चला आया और मेरे 'एपराटस' से उन्हें मनुष्य का आकार मिल गया। फिर प्रेतात्माओं को संगीत अच्छा लगता है। तुम्हारे सितार को सुनकर वे सीधे कमरे में चली आईं।

मं०—[घबड़ाकर] तो क्या मैंने प्रेतात्मा से बातें कीं ? छायादेवी से नहीं !

शे०—छायादेवी के प्रेतात्मा से !

मं०—[घबड़ाकर सोचती हुई] ओह, तब तो मैं भी मरी !

शे०—[संतोष देते हुए] बेटी, कैसी बातें करती है ? तू कैसे मर सकती है ?

मं०—[सोचते हुए] छायादेवी के प्रेतात्मा ने कहा था कि चार महीने बाद वे मुझे लेकर हृषीकेश जायँगीं । तब तो मेरी मृत्यु निश्चय ही चार महीने बाद हो जायगी ! पिताजी, मैं भी मर जाऊँगी । [गला भर आता है ।]

शे०—[मंजुल को हाथ का सहारा देते हुए] बेटी, तू नहीं मर सकती !

मं०—[शिथिल होकर] पिताजी, मैं भी...मर...जाऊँगी !!

[अचेत हो जाती है ।]

शे०—[दुःख के स्वर में] ओह, मंजुल ! मंजुल !!

[अचेत मंजुल को सम्हालकर आर्मचेयर पर लिटाते हैं ।]

ओह, यह क्या हो रहा है ! यह मेरी खोज का दुःखद परिणाम ही है ! मंजुल...मेरी मंजुल ! अब क्या हो !

[अत्यंत अव्यवस्थित होकर सुधीर को पुकारते हैं ।]

शे०—सुधीर ! [सुधीर का प्रवेश] तू कहाँ था ।

सु०—सरकार, भीतरे रहे । बीबीजी हुकुम दीन रहे ! [मंजुल की ओर देखकर] बीबीजी अबहिंन ते सोय गई !

शे०—विनय कहाँ हैं ?

सु०—सरकार, बाहर आपन कमरा माँ होइ हैं ।

शे०—उन्हें इसी वक्त अंदर भेजो ।

सु०—अच्छा सरकार । [प्रस्थान]

शे०—मंजुल, बेहोश होगई । [सोचते हुए] अब उसका सारा जीवन इसी तरह रोते हुए बीतेगा !.. .... और क्या वह सचमुच चार महीने बाद न रहेगी ! [सोचते हुए सिर पकड़कर]......ओह मेरी मंजुल । मेरे कारण तुझे इतना कष्ट हो ! तू चार महीने बाद......सिर्फ चार महीने बाद !...फिर मैं कैसे जीवित रहूँगा ! मेरी बेटी मंजुल !.. छाया...तू क्यों आई ! तूने क्यों मंजुल से बातचीत की । अच्छा, मैं अभी देखूँगा ।...[ऑलिवर लॉजकी पुस्तक निकालकर शीघ्रता से पृष्ठ उलटाते हुए रुककर पढ़ते है]—दि स्पिरिट मस्ट बी काल्ड इन व्हेन एनीथिंग कनैक्टेड विद् इट् कम्स टु पास ।

[विनय का शीघ्रता से प्रवेश]

वि०—आपने मुझे बुलाया था ?

शे०—हाँ, इसी समय । मैं 'स्पिरिट कानटैक्ट' करूँगा । 'एपराटस' का फ़ेस सदरली डाइरेक्शन में करो और मेरे खड़े होने का पैडास्टल ईस्टर्न डाइरेक्शन में । कमरे का टेम्परेचर साठ डिगरी फ़ैरनहैट हो । मेरा नीला ओवरकोट मेरे पास रक्खो !

वि०—बहुत अच्छा ।

शे०—सी. एच्. एच्. ए. वाई. ए. के कटे हुए अक्षर बल्व के सामने लगा दो ।

वि०—बहुत अच्छा ।

शे०—कमरे में सुगधि की बत्तियाँ और लगा दो और एपराटस के इंडिकेटर के सामने फूलदान रख दो ।

वि०—बहुत अच्छा ।

शे०—अपना काम करो ।

[विनय क्रमशः एपराटस और अन्य वस्तुओं को ठीक करता है और डा० शेखर की कही हुई चीज़ों को व्यवस्थित ढंग से सजाता है। शेखर इस बीच में उसी पुस्तक को पढ़ने में लीन है।]

शे०—प्लस और माइनस के कानटैक्ट प्वाइंट्स अत्यंत पास हो और इंडिकेटिंग बैंड शू हार्न के रूप में हो ।

वि०—बहुत अच्छा ।

[डा० शेखर फिर अपनी पुस्तक पढ़ने में लीन हो जाते हैं। विनय अंग्रेजी के कटे हुए अक्षरों को बल्व के सामने सजाता है और बल्व के सामने Chhaya (छाया) दृष्टिगत होता है।]

वि०—छाया स्प्रिट को बुलाएगे ?

शे०—हां, इस विषय में मैं अधिक बात नहीं कर सकता।

वि०—बहुत अच्छा !

शे०—सब ठीक हो गया ?

वि०—जी। [मंजुल की ओर देखकर] कुमारी मंजुल को...क्या सो रही है?

शे०—[तेज़ी से] तुम जाओ विनय! और देखो, कोई इस कमरे में आने न पाये।

वि०—जी। [प्रस्थान।]

शे०—[उठकर नीला ओवरकोट पहनते हैं। फिर मंजुल के समीप आते हैं। मंजुल के ऊपर हाथ बढ़ाकर 'पास' देते हुए] मजुल, तू अब और भी गहरी नींद में सो जा!

[दो तीन बार 'पास' देते हैं। फिर मंजुल के सिर के नीचे तकिया ठीक करते हैं। और 'एपराटस' के पास आकर स्विच 'आन' करते है। लाल बल्ब जल उठता है। उसके बाद हरा बल्ब। ट्यूब में तरल पदार्थ शीघ्रता से गतिशील हो जाता है। दूसरा 'स्विच' आन करते है। एक दूसरा लाल बल्ब जल उठता है। पीले रंग का तरल पदार्थ ट्यूब मे उठने लगता है। फिर वह चक्राकार होकर ट्यूब में घूमने लगता है। वे समीप रखे हुए 'पेडास्टल' पर खड़े हो जाते हैं। सब प्रकाश बुझ जाता है, केवल 'एपराटस' का हरा और लाल प्रकाश होता है। डा० शेखर आँखें बंद कर कहते है:—

शे०—[धीरे-धीरे] प्रिय प्रकाश के अनत समूह! मैं प्रार्थना करता हूँ—मुझे शक्ति दो कि मैं तुम्हारा स्वागत कर सकूँ।...मेरे समीप आओ, जिससे मैं अनुभव कर सकूँ कि

तुम्हारा आना मेरे लिए मंगलमय है।......अधकार के गहन रहस्य को चीरकर मेरे सामने आओ जिससे मैं भी प्रकाशमय हो जाऊँ !......बादलों को हटाकर आओ, तारों की किरणों पर पैर रखकर धीरे से उतरो कि मैं समझ सकूँ कि प्रकाश मे और तुममें कोई अंतर नहीं है।......
मेरे यंत्र में साकार होकर मेरे सामने आ जाओ।......
मैं भी स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर हूँ, और इस प्रकार तुमसे वार्तालाप कर सकता हूँ।......
मैंने तुम्हारी ज्योति और शक्ति धारण कर ली है।......
मुझपर श्वेत प्रकाश की वर्षा हो रही है और मेरे रोम-रंध्रों में व्याप्त होकर मुझे प्रकाश से भर रही है।......
जीवित अग्नि के चक्र मेरे चारों ओर घूम रहे हैं जिससे सूक्ष्म शरीर आकर्षित हो सकता है पर मुझमें प्रवेश नहीं कर सकता।...
मेरा यह हाथ उत्तरी ध्रुव की भाँति सत्य से उज्ज्वल है जिससे मैं तुम्हे बुला रहा हूँ।......
मैं निद्रा जैसी शान्त समाधि में हूँ। मुझे आत्मविश्वास है कि मैं पवित्र और शोक रहित हूँ।......
स्वर्ग की प्रकाशमयी देवी छाया ! तुम आ रही हो...आ रही हो...आ रही हो !......

[थोड़ी देर शांति रहती है। फिर दरवाज़े पर खट्‌खट्‌ का शब्द। फिर शब्द। छायादेवी पहले की श्वेत वेषभूषा में प्रवेश

करती हैं। उनकी मुखमुद्रा और भी गंभीर है। डा० शेखर धीरे धीरे अपने 'पैडास्टल' से उतरते हैं।]

शे०—मेरा तुम्हें नमस्कार स्वीकार हो !

[छायादेवी स्वीकारात्मक सिर हिलाती हैं।]

शे०—[दृढ़ता से] मैं यहाँ सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा अनुभव नहीं आने दूँगा। तुम सत्य ही कहोगी, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। तुम छायादेवी हो ?

छा०—हाँ।

शे०—श्रीमती छायादेवी हो जिनकी मृत्यु दो महीने पहले हुई थी ?

छा०—हाँ, डाक्टर, तुम मुझे जानते हो। तुम्हें उष्णता की लहर आती हुई जान पडी होगी। मैं छायादेवी हूँ।

शे०—हाँ, उष्णता की लहर का अनुभव मैंने किया था। स्वर्ग की देवी को प्रणाम।

छा०—यह असत्य है। मैं अंतरिक्ष में हूँ। स्वर्ग में नहीं।

शे०—क्षमा करो। तुम्हें मेरे यंत्र से कष्ट तो नहीं हुआ ?

छा०—नहीं, किन्तु मैं बार बार आने से प्रसन्न नहीं हूँ।

शे०—इस समय थोड़ा कष्ट और स्वीकार करो। मैं कुछ देर बातें कर सकता हूँ ?

छा०—अधिक से अधिक आधे मुहूर्त।

शे०—अर्थात् ४५ मिनट ?

छा०—इससे किसी भाँति भी अधिक नहीं।

शे०—मेरा तापक्रम ऋण है, तुम्हारा धन है। बाते कर सकोगी?

छा०—हाँ।

शे०—कुर्सी पर बैठने का कष्ट स्वीकार करो।

[छायादेवी कुर्सी पर बैठ जाती हैं।]

शे०—तुम अभी यहाँ आई थीं?

छा०—हाँ।

शे०—कैसे चली आईं? मैंने प्रयोग तो नहीं किया था!

छा०—शुक्र तारे की भाँति बल्ब का निमंत्रण मेरे लिए पर्याप्त था—सितार का संगीत मेरे लिए पर्याप्त था—मंजुल का यहाँ रहना मेरे लिए पर्याप्त था......!

शे०—तुमने मंजुल से बातें की थीं?

छा०—हाँ।

शे०—तुमने मंजुल से यह क्यों कहा कि छः महीने बाद तुम उसे हृषीकेश ले जाओगी?

छा०—तुम्हे दंड देने के लिए!

शे०—क्या अंतरिक्ष में जाकर भी तुम्हारी प्रतिहिंसा नहीं गई?

छा०—लेकिन तुम्हें अपने कार्यों का पूरा पुरस्कार मिलना चाहिए। तुमने मेरे प्रेम को ठुकराया। तुमने मुझे वचन देकर

भी मुझसे विवाह नहीं किया । मैं कुछ नहीं कह सकी । वन मे आग लगने पर जमीन पर पडी हुई लता की तरह जलती रही । लेकिन तुमने एक कण जल भी नहीं दिया । तुमने मुझे सपने की तरह हँस कर टाल दिया और मैं नींद के अँधेरे में तड़पती रही । तुम डाक्टर, ससार के उपकारी होने पर भी एक का उपकार नहीं कर सके ?

शे०—मैं असमर्थ था छाया ।

छा०—चुप रहो डाक्टर, उस दिन तुमने मुझसे क्या कहा था—छाया, मै तुम्हारी छाया की भी पूजा करूँगा । लेकिन तुम मेरे शरीर की ओर देख भी नहीं सके । तुमने फूलों की माला उस दिन मुझे पहनाई थी लेकिन उसके बाद तुमने शायद यह नहीं देखा कि उन फूलों के सूखने के पहले ही मैं सूखने लगी थी ।

शे०—मैं क्या करता छाया । मिलने के दूसरे दिन मेरे मित्र के मरने का समाचार मिला । मैं अपने मित्र को अपने से अधिक प्यार करता था । उस मित्र की विधवा पत्नी और लड़की मजुल के पोषण का भार मैंने अपने कधे पर लिया । मैंने सोचा, तुमसे विवाह करने पर मै अपने मित्र की विधवा पत्नी की सेवा नहीं कर सकूँगा । उस मित्र के परिवार में कोई नहीं था । फिर मैं क्या करता छाया ! वह विधवा पत्नी स्वर्ग की देवी से भी अधिक पवित्र, मेरी सेवा स्वीकार कर सकी, क्या इस ससार में

मेरे लिए सबसे बड़े सुख की बात नहीं है ? यह मंजुल मुझे मेरे प्राणों से अधिक प्रिय है। अपने प्रियतम मित्र की स्मृति-रेखा मंजुल ! जो चार महीने बाद मर रही है।

छा०—लेकिन तुमने मेरे ससार मे आग लगा दी। डाक्टर, तुमने कभी स्त्री के हृदय की थाह नहीं ली कि वह प्रेम करते समय समुद्र से भी अधिक गहरी और गभीर हो जाती है और निराश होने पर आग की लपट से भी अधिक भयानक, जिसकी एक एक चिनगारी में सारा जीवन जल जल कर बुझता है जिससे उसे बार बार जलना पड़े। जैसे हृदय के पास निकला हुआ एक फोड़ा हो जो हृदय की धड़कन से दर्द करे। फिर भी मैं मौन रही, हँसती रही, लेकिन तुमने यह न समझा कि छाया इस लिए बढ़ रही है क्योंकि उसके जीवन का सूर्य ढल रहा है। मेरे जीवन के वे दिन मेरे मौन रहने में अँधेरे के समान भयानक हो रहे थे। डाक्टर······मै अधिक दिनों तक जिन्दा नहीं रह सकी।

शे०—उन पुरानी बातों को भूल जाओ, छाया !

छा०—अब तो कुछ भी शेष नहीं है। वे बातें स्वप्न जैसी मालूम होती हैं लेकिन जिस तरह भयानक स्वप्न देखलेने के बाद उदासी रह जाती है उसी तरह अब भी मेरे मन में एक काली रेखा खिंची है। जिस तरह नदी के उतर जानेसे किनारे की मिट्टी घुल कर टेढ़ी मेढ़ी हो जाय—टूटफूट जाय—ऐसी मेरी भावना रह गई है। चढी हुई लहरो के चले जाने के बाद मिट्टी

पर जो चिन्ह बने रह जाते हैं उसी तरह पास आज भी तुम्हारी स्मृति-रेखा है डाक्टर !

शे०---मैंने तुमसे विवाह नही किया छाया, केवल एक पवित्र उद्देश्य के लिए ! अपने जीवन की समस्त सेवाओं को एक पवित्र स्मृति में उत्सर्ग करने के लिए ।

छा०---इन्द्रधनुष बनने के पहले ही तूफ़ान आ गया । लेकिन तुम कमजोर थे डाक्टर । तुम अपनी मित्र-पत्नी की सेवा भी करते और किसी पीडित हृदय से प्रेम भी । मनुष्य क्या नही कर सकता ! वह सूर्य की तरह उष्णता भी पहुँचा सकता है और प्रकाश भी । लेकिन तुम सिर्फ़ एक चिनगारी की तरह उष्णता देकर काले कण की तरह जमीन पर गिर पड़े । तुम प्रकाश नही दे सके डाक्टर ! मेरे पास तुम्हारे पूर्व जन्म का भी चित्र है जिसमें तुमने मुझसे विवाह किया था---उसी के नाते मैंने तुमसे प्रेम किया किन्तु---

शे०---मैं अपराधी हूँ, छाया । मुझे क्षमा करो !

छा०---अब क्षमा चाहते हो ? और पहले ! पहले सेवा के व्रत में क्या आत्मप्रशसा के भूखे नहीं थे ? चोर की तरह क्या तुम मेरी ओर से भाग नहीं गए ? यदि मुझसे विवाह नहीं कर सकते थे तो एक वीर की तरह दिए हुए वचन के लिए पश्चात्ताप करते । लेकिन तुमने मेरी ओर देखा ही नहीं । जैसे मैं तुम्हें मृग-जल की तरह धोखा देती ।

शे०—नहीं छाया ! मैं डर रहा था कि कहीं तुम्हारी ओर देख कर मैं अपने सेवा-व्रत से डिग न जाऊँ, मैं अपने मित्र की पत्नी की ओर से उदासीन न हो जाऊँ।

छा०—तो तुम कायर भी थे। यह क्यों नहीं कहते कि तुम्हारे भीतर आशकाएँ भी थीं, डर भी था। साहस नहीं था कि तुम मेरी ओर देख कर स्पष्ट बात कहते! शीशे को तोड़ कर उसके चूर हुए टुकड़ों को ही उठा लिया होता। समझ लेती कि भूल से शीशा टूट गया और उस टूटे हुए शीशे से तुम्हें कुछ अनुराग भी है। लेकिन तुमने मुझे ऊँचे शिखर से गिरा कर यह भी नहीं देखा कि मैं कितने नीचे गिर रही हूँ—असहाय हो कर टूटे हुए तारे की तरह कहाँ जा रही हूँ—किस पत्थर की ओर चूर चूर होने के लिए बढ़ रही हूँ! स्त्री के हृदय में आग लगा कर त्याग का निर्मल जल पीते हुए तुम्हे लज्जा नहीं आई? तुम्हे कुछ ध्यान था कि उस जल में मेरे कितने आँसू मिले हुए हैं?

शे०—मैं नहीं जानता था देवी, कि तुम्हारा प्रेम इतनी सीमा तक पहुँच चुका है।

छा०—स्त्री के सच्चे प्रेम की सीमा नहीं जानते और मृत्यु का रहस्य खोजने में व्यस्त हो। कभी मेरे रहस्य की ओर भी दृष्टि करते! लेकिन मकड़ी की तरह गोल जाले को बुनकर उसके बीच में बैठ कर पृथ्वी की गोलाई नहीं देखी जा सकती। जुगनू के जीवन की चिनगारी से ज्वालामुखी की आग की कल्पना नहीं

हो सकती डाक्टर ! तुम नहीं समझ सके कि स्त्री की निराशा के अंधकार में ही एक ज्वालामुखी सोता है और उसके जागने पर स्त्री को आग के सिवाय कुछ नहीं दीखता।

शे०—मैं समझता था देवी कि तुम्हें मेरे सेवाव्रत से संतोष होगा। आजन्म अविवाहित शेखर के प्रति तुम करुणा और सुख प्रकट करोगी। लेकिन मेरे आत्म-बलिदान का कोई मूल्य नहीं रहा। मैंने अपना सारा सुख, सारा आनन्द एक देवी के पावन चरणों में रख दिया और उसका कुछ अर्थ नहीं निकल सका! मित्र की पत्नी में माँ की छाया देखी और मंजुल मे पुत्री की—क्या इस विषमता में मेरा जीवन व्यर्थ समझा जाय ? मंजुल को ज्ञात ही नहीं कि उसके पिता मे और मुझमें क्या अंतर है। लेकिन मंजुल का सुख मेरे जीवन का सब से बडा आदर्श है। उसके लिए मैं सब कुछ कर सकता हूँ। और मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि यदि अपने मित्र की पुत्री मंजुल के सुख के लिए मुझे ईश्वर की पूजा भी ठुकरानी पड़े तो देवी, मै उसके लिए तैयार हूँ। यह मेरा व्रत है, यह मेरी तपस्या है! यह मेरा सब कुछ है।

छा०—यह सब तो तुमने किया लेकिन मेरे निरपराध जीवन को यों ही जलता हुआ छोड़ दिया। जलते जलते मेरे आँसू की धारा आग की नदी बन गई लेकिन धर्मात्मा डाक्टर, अब मैं तुमसे कुछ न कहूँगी। एक बात कह कर जाना चाहती हूँ

कि अब तुम मुझे बुलाने का कष्ट न किया करो। मुझे अपने ही संसार में रहने दो। बार बार तुम्हारी पृथ्वी का स्पर्श मेरी शांति के स्वर्ग को नर्क बना देता है।

शे०—मैं इसके लिए तैयार हूँ लेकिन देवी, मंजुल का जीवन कम न होने पाय। चार महीने के बाद भी वह जीवित रहे और उसके मस्तिष्क से यह बात निकल जाय कि तुमने कुछ समय पहले उसे चार महीने बाद हृषीकेश ले जाने की बात कही थी। जैसे कुछ हुआ ही न हो। पुनर्जन्म में जिस प्रकार मनुष्य पिछले जन्म की बातें भूल जाता है, उसी भाँति मंजुल भी तुम्हारी बात भूल जाय।

छा०—डाक्टर, मै यह नहीं कर सकती।

शे०—देवी, तुम सब कुछ कर सकती हो। मै प्रार्थना करता हूँ। तुम्हारी इच्छा की तरंग वायु बन कर मंजुल की साँस से उसके मस्तिष्क में पहुँचे और उसके मृत्यु के विचार को लेकर दूसरे ही क्षण बाहर आ जाय।

छा०—डाक्टर, मैं यह नहीं कर सकती।

शे०—मैं भिक्षा माँगता हूँ देवी। देवी, मैं भिक्षा माँगता हूँ [आगे बढ़ते हैं।]

छा०—डाक्टर वहीं रहो। अपनी सीमा से बाहर मत बढ़ो। मैं तुम्हारे ससार की स्त्री नहीं हूँ। मुझे तुम छू नहीं सकते। छूने का परिणाम बहुत भयंकर होगा।

शे०—[रुक कर] अच्छा, आगे नहीं बढ़ूँगा लेकिन मेरी प्रार्थना स्वीकार करो।

छा०—डाक्टर, कुछ वर्ष पहले की बात सोचो। मैंने तुमसे प्रार्थना की थी और तुमने तिरस्कार किया था। आज तुम प्रार्थना कर रहे हो। बोलो, मैं तुम्हारा तिरस्कार करूँ? संयम की ज़ंजीर से जकड़े हुए सन्यासी, दूसरे का हृदय जलाना भी पाप की परिभाषा में आ सकता है। उस पाप का परिणाम देखने की शक्ति क्या तुममे नहीं है?

शे०—बहुत बडी परीक्षा न लो देवी! मंजुल की मृत्यु देखने की शक्ति मुझमें नहीं है।

छा०—जैसे मेरी मृत्यु देखने की शक्ति तुममें थी वैसे ही मजुल की मृत्यु देखने की शक्ति का आवाहन करो।

शे०—छाया, यदि यही बात रही तो मैं सचमुच ऐसी स्वर्गीय आत्माओं का आवाहन करूँगा कि तुमको नष्ट हो जाना होगा। मेरे आराध्य, शक्ति दो कि मैं छाया को नष्ट कर सकूँ! तुम्हें नष्ट होना होगा छाया।

छा०—क्या डाक्टर? फिर से कहना। इस वाक्य को फिर मुँह पर न लाना। आत्माएँ नष्ट नहीं होतीं, न वे उत्पन्न होती है। मैं नष्ट नहीं हो सकती। मुझसे युद्ध करने में तुम्हारी हार होगी--यह मैं जानती हूँ। तुम्हारे ये सारे यंत्र नष्ट हो जायँगे, तुम नष्ट हो जाओगे और देखो, और देखो, तुम अपनी सीमा से बहुत

बढ़ते जा रहे हो। मृत्यु के रहस्य को कोई नहीं जान सकता लेकिन तुम अपने परिश्रम से बहुत कुछ जान गये। यह रहस्य संसार के मनुष्यों के लिए नहीं है। ईश्वर ने मृत्यु को जीवन के बाद इसीलिए बनाया है कि ससार का जीवन जीवन रहे।

शे०—लेकिन मैं रुक नहीं सकता देवी !

छा०—रुकना होगा, तुम्हारी ही खोज का परिणाम है कि मंजुल अपनी मृत्यु की बात जान सकी।

शे०—ओह, मंजुल की मृत्यु ! बचाओ देवी, मुझे।

छा०—तुम मंजुल के लिए सब कुछ कर सकते हो ?

शे०—सब कुछ। अपने जीवन के बधन भी तोड सकता हूँ।

छा०—तो पहले अपना यह यंत्र तोड़ो। [तीव्र दृष्टि]

शे०—[चौंक कर] ऍ--यह यत्र तोड़ूँ ? अपने जीवन की सारी साधना ? सारी तपस्या ? न, न देवी, यह मुझसे न होगा ?

छा०—तो मजुल की मृत्यु निश्चय है। मैं यह नहीं चाहती कि तुम आत्माओं के संसार में भी तूफ़ान उठाओ- मृत्यु के परदे को फाड़ कर तुम आगे क़दम बढाओ। तुम वहीं रहो जहाँ तक तुम्हे रहने का अधिकार है। और तुम्हे अपनी सारी साधनाएँ भूलनी होंगी। बोलो, मजुल के जीवन और अपने यत्र में तुम्हें कौन अधिक प्रिय है ?

शे०—यदि यही प्रश्न है तो मजुल का जीवन देवी !

छा०—तो अपना यत्र नष्ट करो।

शे०—ओह, यत्र नष्ट करूँ। अच्छा, मजुल के जीवन के लिए करूँगा, निश्चय करूँगा। अपना यंत्र तोडूँगा। [यंत्र तोड़ने के लिए आगे बढ़ते हैं फिर रुक जाते हैं।] नहीं देवी। मुझे यह दड न दो। देवी, मुझे यह दड न दो। मेरे जीवन की सारी साधना !

छा०—वीर पुरुष की तरह दंड स्वीकार करो डाक्टर ! यत्र तोड़ दो।

शे०—तोड़ दूँ...अच्छा तोडता हूँ। [रुक जाता है।]

छा०—शक्तिशाली डाक्टर मजुल के लबे जीवन के लिए यत्र तोड दो।

शे०—[चिल्ला कर] मंजुल के लम्बे जीवन के लिए ..[यंत्र पर प्रहार करते हैं। यंत्र टूट जाता है। और छाया देवी भी नहीं दीख पड़तीं।]

शे०—[पुकार कर] छाया, छाया !! [कोई उत्तर नहीं आता। शेखर स्विच 'आन' करते हैं। उजेला हो जाता है। मंजुल जागती है।]

मं०—[आँखे मलते हुए] पिताजी !

शे०—मंजुल !

मं०—[उठकर] पिताजी नींद आगई ! मैं सो गई। [शेखर कुछ नहीं बोलते।]

मं०—पिताजी, बोलते क्यों नहीं ? नाराज़ हो गये ?

शे०—[गंभीरता से भारी स्वर में] नहीं मंजुल।

मं०—अच्छा, अगर मेरे सोने से नाराज होते हैं तो रात में भी नहीं सोऊँगी। लेकिन आपको अच्छी अच्छी बातें सुनानी होंगी।

शे०—और तू अगर हृषीकेश चली गई तो?

मं०—मैं अपने पिता जी को छोड़ कर हृषीकेश क्यों जाने लगी? मैं तो हमेशा यहीं रहूँगी आप के पास।

शे०—तुझसे किसी ने अपने साथ हृषीकेश ले जाने की बात कही थी?

मं०—मुझसे? [सोचती है।] मुझसे कौन कहेगा? यदि मुझे आप अपने पास से हटाना चाहते हो तो बात दूसरी है।

शे०—ओह! मेरी मंजुल...[मंजुल को हृदय से लगाता है]

मं०—[टूटे हुए 'एपराटस' को देख कर] ओ, यह किसने तोड़ा पिताजी! ['एपराटस' के पास शीघ्रता से जाती है।]

शे०—[गंभीरता से] मैंने।

मं०—आपने? अरे आप तो इसके एक कार्क के इधर से उधर होने पर चिंतित थे। आपने कैसे तोड़ा?

शे०—मैंने तोड़ दिया, मंजुल मैंने, अब कोई खोज नहीं करूँगा। अब मैं और मंजुल, मेरी बेटी।

मं०—पिताजी......

शे०—मंजुल......[दोनों एक दूसरे की ओर बढ़ते हैं।]

(परदा गिरता है।)

रजनी की रात

[नवंबर १९४१]

अभिनय-भूमिका

इस नाटक का सर्व प्रथम अभिनय इलाहाबाद यूनिवर्सिटी डेलीगेसी वीमेन्स एसोसियेशन द्वारा डेलीगेसी के वार्षिक समारोह के अवसर पर कुमारी शान्ति सिनहा बी. ए. और कुमारी मीना अनॅद बी. ए. के निर्देशन में ४ दिसम्बर १९४१ को हुआ। भूमिका इस प्रकार थी—

रजनी : कुमारी सुशीला मालवीय

कनक : कुमारी कुमुदिनी पांडेय

आनंद : कुमारी राजरानी शुक्ल

बूढ़ा आदमी : कुमारी स्वर्णलता मित्तल बी. ए.

केसर : कुमारी एम० बेन्सन

मंगल : कुमारी कमला शुक्ल

नाटक के पात्र

१. रजनी : एक स्वतंत्रता प्रिय, गंभीर, कुमारी युवती।

२. कनक : एक सतत प्रसन्न कुमारी युवती,
रजनी की सखी।

३. आनंद : कनक के भाई। निर्भीक, शिकारी,
वीर, स्वतंत्रता प्रिय।

४. केसर : रजनी की नौकरानी।

५. मंगल : रजनी का नौकर।

—:❀:—

[काश्मीर प्रदेश। एक पहाड़ी का समतल भाग जैसे सौंदर्य साकार हो गया है। चारों ओर फूलों के पौधे और लताएँ। एक संभ्रांत परिवार यहाँ कुछ दिनों के लिए वायु-परिवर्तनार्थ आया था। परिवार में वृद्ध पिता, युवती पुत्री, दो नौकर और एक नौकरानी थी। आज दोपहर वृद्ध पिता एक नौकर के साथ घर लौट गये। अब यहाँ पर केवल युवती पुत्री, एक नौकर और नौकरानी है। युवती का नाम है रजनी। १८ वर्ष के लगभग आयु होगी। गौर वर्ण, सुंदर मुखमुद्रा और दुबला शरीर। वह सफ़ेद सिल्क की साड़ी पहने हुए है। माथे में बिंदी और अन्य साधारण शृंगार। उसका कुछ गंभीर व्यक्तित्व है।

रजनी के तंबू से कुछ दूर पर एक दूसरा परिवार ठहरा हुआ है। उस परिवार में भी एक युवती है। उसका नाम है कनक। आयु उसकी रजनी की आयु के लगभग बराबर ही है। वह नीली रेशमी साड़ी पहने हुए है और फूलों से अपना शृंगार किए है। ज्ञात होता है, वह वनबाला है। प्रसन्नता की रेखा ने उसके मुख को खिला दिया है। कनक और रजनी में मित्रता हो गई है। दोनों ही प्रवास में हैं और समीप रहने के कारण दोनों में परिजनों का सा स्नेह हो गया है। कभी-कभी कनक रजनी के यहाँ आकर समय बिताने के लिए बैठ जाती है। रजनी कनक के यहाँ अपेक्षाकृत कम जाती है। किन्तु जब दोनों मिलती हैं तब दोनों में प्रायः कुछ विवाद छिड़ जाता है।

आज रजनी अपने तंबू के एक बड़े कमरे में बैठी है। कमरे में सजावट है। नीचे क़ालीन बिछा हुआ है। बीचोबीच एक टेबुल

है जिस पर फूलदान रक्खा है। कमरे में दो तीन कुर्सियाँ पड़ी हैं। एक कोने में सफ़ेद चादर से सजा हुआ पलंग है। पलंग के समीप आल्मारी में पुस्तकें सुंदरता के साथ सजी हैं। आल्मारी पर हाथीदाँत और संगमरमर की कुछ मूर्तियाँ रक्खी हैं। आल्मारी के समीप एक टेबुल और कुर्सी है। जिस पर बैठकर रजनी कभी कभी लिखती पढ़ती है। एक कोने में सितार टँगा हुआ है। उसी के समीप एक घड़ी है जिसमें रात के नौ बजे हैं। घड़ी के पास ही रजनी के पिता का एक तैलचित्र लगा हुआ है। उसके नीचे एक अँगीठी है जिसमें अंगारे दहक रहे हैं।

पिता के चले जाने से रजनी आज कुछ मलीन है यद्यपि वह आत्म-विश्वास से अपने को सँभाले हुए है। वह इस समय एक पुस्तक पढ़ रही है। ध्यान में मग्न है। धीरे-धीरे कनक आती है। उसके हाथ में फूलों की एक डलिया है। उसने अपना सारा शरीर फूलों के आभूषणों से सजाया है। वह चुपके से रजनी के पीछे आकर उसके सिर पर फूल बरसा कर हँस पड़ती है। रजनी चौंककर उसकी ओर देखती है।]

रजनी—ओह! ..कनक.. !

कनक—इस फूलों के देश काश्मीर में आकर भी पढ़ना!

र०—[अँगड़ाई लेती है] आओ, बैठो। [पुस्तक बंद करती हुई] और क्या करूँ कनक?

क०—[बैठते हुए] काम की कुछ कमी है रजनी? हवा के झोकों में झूमती हुई सफ़ेदा की टहनियों को देखा है? खुशी

से झूमते रहना उनका काम है। मानसबल की मछलियों को देखा है? लहरों की लंबी कोरों में चितवन की तरह मचलती हैं।

र०—मै मछली नहीं हूँ कनक।

क०—सो तो एक बंगाली भी कह सकता है। लेकिन मैं कहती हूँ कि वे मछलियाँ अच्छी है जो कितावें नहीं पढ़तीं, गभीरता से कुर्सी पर नहीं बैठतीं। जानती हैं कि भगवान ने जो छोटी सी जिंदगी दी है उसमें खेलना और खुश रहना—बस यही दो बातें है।

र०—अगर यही होता तो दुनिया में कुछ काम ही न हुआ होता। वह एक महफिल हो जाती और जो जितने जोर से हँसता वह उतना ही बड़ा आदमी होता।

क०—बेवकूफी से हँसना तो रोने से भी बुरा है रजनी। उससे तो तुम्हारी गभीरता अच्छी! लेकिन जिंदगी का आनंद लेना जिंदगी को पहिचानना है। अच्छा यह देखो, यह फूल है। [हाथ में फूल लेती है] जरा इसे पैरों से कुचल दोगी! [पैरो के पास फेंकती है।]

र०—वाह, ऐसी खूबसूरत चीज पैरों से कुचली जा सकती है? [फूल कनक के केशों में लगाती है।]

क०—यही तो तुम कर रही हो रजनी! यह जिंदगी फूल की तरह खिली हुई है; इसे तुम गंभीरता के पैरों से कुचल रही हो, धूल में मिला रही हो।

र०—लेकिन कनक, तुम समझती हो कि इस जिंदगी के फूल में कॉटे नहीं हैं ?

क०—होंगे, उन्हें निकाल कर फेंक दो। लेकिन तुमने तो जिंदगी के फूल को ही कॉटा बना रक्खा है। गभीर, मौन, उदास—तुम्हारी ये सूरतें तो जैसे जिंदगी के दिल में त्रिशूल की तरह चुभी हुई हैं। अगर ऐसी बात है तो यह सितार क्यों यहाँ रख छोड़ा है ?

र०—पिताजी मेरे लिए लाये थे। मुझे अच्छा ही नहीं लगा। मैंने सब तार इसके तोड़ डाले।

क०—बहुत अच्छा किया, मैं भी अगर एक प्रार्थना करूँ, मानोगी ?

र०—क्या ?

क०—ये किताबें मुझे दे सकती हो ? थोडी देर के लिए ?

र०—क्यों ?

क०—मैं इन्हें खूबसूरती के साथ नहलाना चाहती हूँ।

र०—शः, क्या कह रही हो ?

क०—नहीं, शायद उन्होंने कभी स्नान नहीं किया। निखर उठेंगी।

[मंगल किताबों का ढेर लेकर आता है।]

मं०—सरकार, ये किताबें बाहर पडी थीं। इन्हे अदर रख दूँ ?

र०—मगल ?...अच्छा, इन्हें उस कोनेमें सजा दे।

[मंगल किताबें सजाकर रखने लगता है ।]

क०—यह किताबों का 'प्रोसैशन' कहाँ से आ रहा है ?

र०—प्रोसैशन ? [किञ्चित हँस कर] कुछ नहीं। शाम को तंबू से बाहर पढ़ रही थी । वहीं ये किताबें रह गई थीं ।

क०—शाम को भी पढना ! तुम तो रजनी, एक काम करो । सारी किताबों को अपने कपडो पर छपवा लो । कहीं भी जाना हुआ, किताबो को पहने हुए जा रहे हैं । किताबों को उठाने-रखने की जहमत से बच जाओगी । जिस विषय को पढ़ना हुआ उस विषय की साडी पहन ली ।

र०—कनक, आज मैं उदास हूँ और तुम बाते गढ़ती जा रही हो ।

क०—तुम उदास क्यों हो ? इसीलिए ठीक बातें नहीं कर रही हो ।

र०—बहुत कोशिश करती हूँ कि उस पर सोचूँ ही नहीं लेकिन...उदासी आ ही जाती है ।

क०—क्यों ?

र०—आज पिता जी घर वापस चले गये ।

क०—किसलिए ?

र०—मैंने उन्हे नाराज कर दिया ।

क०—नाराज कर दिया ?

र०—हाँ, नाराज कर दिया । उनका अपमान कर दिया ।

क०—अपमान कर दिया ? कैसे ?

र०—मैंने अपने जान तो नहीं किया, लेकिन उनके ख्याल से अपमान हो गया।

क०—किस बात से ?

र०—मैंने उनसे कहा था पिताजी, दुनिया बहुत धोखेबाज है। बहुत बनी हुई है। उसमें सिर्फ स्वार्थ ही स्वार्थ है। भाई भाई में स्वार्थ है। पुरुष और...

क०—शायद तुमने यह भी कहा होगा कि पिता पुत्री में भी स्वार्थ है।

र०—हाँ, यह भी कहा। वे कहने लगे मेरा क्या स्वार्थ है ? मैंने कह दिया कि मेरे योग्य होने से आपकी चिंताएँ कम हो जायँगी और समाज में आपकी मुश्किलें आसान हो जायँगी।

क०—यह ठीक नहीं है रजनी !

र०—ठीक क्यों नहीं ? [उठ खड़ी होती है।] लड़की के खराब निकल जाने पर किस पिता ने उसका तिरस्कार नहीं किया ? पिता तो ऐसी लडकी का मुँह देखना भी पसन्द नहीं करता। अगर आज मैं अपनी मर्यादा छोड़ दूँ तो पिताजी का प्रेम क्या बालू की दीवार की तरह एक मिनट में नहीं गिर पडेगा ? फिर वह प्रेम कहाँ रह गया ? और सुनो कनक, यह सारी चीजें समाज ने मनुष्य को दी हैं--ऐसे समाज ने जो जंजीरों से कसा हुआ है। पिता पुत्र पर शासन करता है, पुरुष

स्त्री पर अधिकार दिखलाता है जैसे जिंदगी में अधिकार के सिवाय कुछ है ही नहीं। ज़िंदगी तड़पती है और अधिकार उस पर हँसता है कनक! अगर यह अधिकार न होता तो क्या स्त्री पुरुष को प्यार न करती? पुत्र पिता का आदर न करता?

क०—ठीक है, लेकिन रजनी! तुम जैसे सभी तो नहीं हैं। कहीं पुत्र पिता को पीट देता या स्त्री पति से कहती--मेरी बिना इजाज़त आफिस मत जाओ--युनीवर्सिटी में पढ़ाने मत जाओ।

र०—तो ऐसा क्या अब नहीं होता? लोगों को आफिस में देरी हो ही जाती है। यूनीवर्सिटी में लड़के बैठे रहते हैं और प्रोफ़ेसर ठीक वक्त़ पर आ नहीं सकते।

क०—इसीलिए तो मर्यादा की सख्त ज़रूरत है। "अथारिटी" का काम यही है। संसार के काम को चलाने के लिए अधिकार की आवश्यकता है।

र०—लेकिन उसमें जिंदगी का उत्साह जो खराब हो जाता है, कनक। पुत्र बिना किसी शासन के जो प्यार करता वह तो हृदय से उमड़ता हुआ प्यार होता। स्वभावतः स्त्री जैसा प्यार करती, क्या उसी तरह का प्यार एक डरी हुई, दबी हुई स्त्री करेगी? यह समाज का अन्याय है कनक!

क०—इसे अन्याय नहीं कह सकती। बंधन तो इसलिए चाहिए कि उससे आदमी स्वतंत्र हो सके। अपनी बेतरतीबी से बढ़ती हुई इच्छाओं को रोक कर वह उन्नति के रास्ते पर क्या

नहीं बढ़ सकेगा ? तुम एक पक्षी को देखती हो ? वह सिर्फ़ अपने दो पंखों के बधन में बँधा हुआ है लेकिन उन्हीं बंधनों से वह सारे आकाश की हजारों कोसों की दूरी स्वतन्त्रता से पार कर जाता है । रजनी ! बधन को उन्नति के रास्ते में रोड़ा मत समझो । बंधन को स्वतन्त्रता का सहायक समझो ।

र०—ये सब कवि की कल्पनाएँ हैं ।

क०—तो इसीलिए तुम्हारे पिताजी नाराज हो गये ?

र०—नाराज क्या हुए, झुँझलाकर रह गये । मैंने कहा—पिताजी, मैं अकेली रहना चाहती हूँ ।

क०—पिताजी ने क्या कहा ?

र०—उन्होंने कहा—बेटी, माँ तो तेरी छुटपन में ही चली गई थी । अब तू ही एक-मात्र मेरा सहारा थी सो तू ऐसी बात कहती है !

क०—उस वक्त पिताजी की आँखों में आँसू ज़रूर रहे होंगे ।

र०—हाँ, उनकी आँखें कुछ गीली जरूर हो गई थीं ।

क०—तो तुम अकेली रहना चाहती हो ?

र०—हाँ, मैं रहके देखना चाहती हूँ ।

क०—कब तक ?

र०—कनक, समाज मुझे अच्छा नहीं लगता । माँ का प्रेम मैं जानती नहीं । मुझे समझने की फुर्सत पिताजी को है नहीं । मैं तो जिंदगी से ऊब रही हूँ । चाहती हूँ कि किसी एकांत

स्थान में सोचूँ कि मैं क्या करूँ। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता, कनक। मैं ही तो पिताजी को अपने साथ यहाँ लाई थी, आब-हवा बदलने के बहाने। मैंने अपने मन में सोच लिया था कि उन्हें यहाँ से वापस कर दूँगी।

क०—तो अब यहाँ तुम्हारे साथ कौन हैं?

र०—केसर और मंगल।

क०—नौकरानी और नौकर, सिर्फ़!

र०—हाँ।

क०—तो यहाँ अकेली रहकर क्या करोगी?

र०—पढ़ूँगी। सोचूँगी। मुझे ऐसा मालूम होता है कनक कि जिंदगी में कोई नयापन नहीं है। पुराने जमाने से आदमी जैसा रहता चला आया है, उसी तरह वह रहता है। उसमें सारी चीज़ें बासी हो गई हैं। मुझे उनसे एक तरह की दुर्गंधि आ रही है। जीने के ढंग में कोई नयापन नहीं है। इसीलिए मैंने स्कूल की नौकरी छोड़ दी।

क०—स्कूल की नौकरी छोड़ दी! अब पिताजी को भी छोड दिया। विवाह तो अभी नहीं हुआ नहीं तो आगे चलकर उन्हें भी...

र०—कुछ नहीं होने का कनक। मैं तो देखती हूँ कि परिवार में डूबा हुआ आदमी कुछ नहीं कर सकता। ज़िंदगी की जरूरतों को पूरा करता हुआ सोता है, जागता है। उसे विवाह करना पड़ता है, बच्चों का भरण-पोषण करना पड़ता है।

बुड्ढा होना पड़ता है और मर जाना पडता है। एक ही रास्ता, एक ही चाल, एक ही दूरी। मुझे इससे घृणा होगई है, कनक। मैं यह कुछ नहीं चाहती।

क०—तो रजनी, तुम चाहती क्या हो?

र०—मैं क्या कहूँ कि क्या चाहती हूँ! मैं समाज का बधन नहीं चाहती। मैं ममता और मोह के बंधनों को तोडकर स्वतत्र विचारों में विश्वास रखती हूँ। कनक, जब ऐसा होगा तो ससार कितना अच्छा होगा!

क०—बहुत अच्छा होगा। पिता पुत्री से कहेगा, घर चलो। पुत्री कहेगी—पिताजी, नमस्कार। वह पुरुष के बदले पुस्तकों से प्रेम करेगी। हँसने खेलने के बदले गभीर रहेगी—कहेगी [गाल फुलाकर] मै समाज का बंधन नही चाहती।

र०—मैं तुम पर दया करती हूँ कनक, तुम क्या समझो? रूढियों में बँधी हुई कनक, तुम क्या समझो कि स्वतत्र विचार क्या होते हैं। अध-विश्वासों की जंजीरों में तुम्हारे प्राण भी कस गये हैं। बरसों की गुलामी में पडी हुई स्त्री इन बातों को देर में समझेगी, तुम अभी नहीं समझ सकती। जाओ, फूलों के गजरे बनाओ और दुलहिन बनो।

क०—रजनी, अब इस बकझक को छोडो। बोलो, तुम यहाँ कब तक रहोगी?

र०—कह तो चुकी हूँ, हमेशा।

क०—अकेले ?

र०—और क्या ? मै सोचूँगी, समझूँगी, पढ़ूँगी कि समाज को कैसे बदलना चाहिये। बी० ए० पास करने के बाद मैंने अपना सारा समय यही सोचने में लगाया है। हमारे समाज में सब से पहिले पिता लड़की को कमजोर बना देता है। वह समझ लेता है कि लड़की का विवाह करना है। उसे वह पढ़ाता है, लिखाता है। यह सब इसलिये कि लड़की का विवाह वह अच्छी जगह कर सके और फिर वह लडकी पति के घर वालो की गुलाम हो जाय; उन्हें खाना पकाकर खिलाये और खुद गाली खाये। यह सब कुछ नहीं होने का। मुझे भी पिताजी ने यह सब सिखलाने की कोशिश की लेकिन मैं इन विचारों की कायल नहीं। ख़ुद ऐसी बातें सोचकर निकालूँ कि मनुष्य ज़िंदगी में कभी गुलाम न हो, किसी का गुलाम न हो। मैं परिवार और समाज नहीं चाहती। मैं मनुष्य के लिये पूरी स्वतंत्रता चाहती हूँ। कनक, बधन मनुष्यता का कलक है।

क०—इतनी सब बातों में तुम्हें पिताजी की याद नहीं आयेगी ?

र०—आयेगी क्यो नहीं, लेकिन मुझे उस याद को भूल जाना होगा। मैं अपनी कमज़ोरी पर विजय पाना चाहती हूँ कनक। आज उदास थी। क्योंकि पिता जी आज ही गये हैं, लेकिन दस-पंद्रह रोज़ बाद यह रजनी दूसरी ही रजनी होगी।

क०—तब तो तुम मुझे भी भूल जाओगी !

र०—तुम्हें कैसे भूल सकती हूँ ?

क०—जैसे पिता जी को भूलने की कोशिश करती हो।

र०—[कुछ अप्रतिभ हो कर] लेकिन भूलने के माने यह नहीं है कि मैं तुम्हारी याद भी न करूँ। हाँ, तुम्हारी याद से रोने के बदले मैं हँसना चाहती हूँ।

क०—अच्छा तो सुनो, हम लोग भी कल जा रहे हैं।

र०—अरे, कल ही ?

क०—हाँ, माता जी से पूछ कर तुमसे आखिरी बार मिलने आई थी। तुम्हारी बातों में उलझ गई। मैंने सोचा, ऐसी बाते अब कब सुनने को मिलेंगी। सुनती रही; अब देर हो रही है।

र०—अरे, तुम भी जा रही हो, तुम भी जा रही हो !

क०—हाँ, भाई का एग्ज़ामिनेशन पास आ गया है। उन्हे तकलीफ होती होगी खाने पीने की। उन्होंने अपनी जिद में अभी तक शादी भी नहीं की। नही तो ऐसी तकलीफ़ उन्हे होती ही क्यों ? कुछ लडके कैसे ऑख मूँद कर शादी करा लेते हैं--मेरे भाई साहब...

र०—शादी नहीं की तो क्या बुरा किया !

क०—उनके विचार कुछ-कुछ तुम्हारे विचारों से मिलते हैं। कहते हैं, मै विवाह करूँगा ही नहीं और करूँगा तो पहले लड़की को ख़ूब समझ लूँगा। मैंने कहा---ऐसा करोगे भाई साहब तो लडकी तुम्हें पहले समझेगी [दोनों हँस पड़ती है।]

र०—कनक, तुम अभी नहीं जा सकतीं।

क०—लेकिन रजनी, हम लोगों को जाना ही होगा। भाई कहते हैं कि खाना अच्छा और वक्त पर न मिलने से पढ़ाई हो ही नहीं सकती। हम लोगों को तो और जल्दी घर लौट जाना चाहिए था।

र०—[सोचती है।] खाने पीने की तकलीफ! तभी तो मैं कहती हूँ---सारा जीवन परिवार की चिंता में---फिर जीवन में काम क्या करोगी? परिवार की चिंता, परिवार की दासता।

क०—यह दासता नहीं है रजनी! माता पुत्र को, बहिन भाई को, स्त्री पति को खिलाने में दासी नहीं हो जाती। यह तो ईश्वर की दी हुई ममता है। यह तो ईश्वर का वरदान है।

र०—[सोचती हुई] पुत्र...भाई...पति [सोचती है।]

[बाहर से आवाज़ आती है रजनी और कनक सुनती है]

कनक...ओ कनक...अरे सुनो ऐ आदमी...रजनी देवी का टेन्ट यही है?

मंगल की आवाज़—जी हाँ, सरकार।

बाहर की आवाज़—तो कनक है अंदर?

मंगल की आवाज़—जी हाँ, सरकार।

बाहर की आवाज़—कहो कि आनद बुलाने आये हैं।

क०—[उद्विग्नता से] मेरे भाई की आवाज़!

र०—तुम्हारे भाई की आवाज़! तुम्हारे भाई यहाँ कैसे?

क०—वे ही तो हम लोगो को लेने आये हैं। चाचाजी यहाँ

से सीधे जा रहे हैं नैनीताल। उन्होंने भाई साहब को लिखा कि तुम आकर सब को ले जाओ। वही आये हैं।

[मंगल का प्रवेश।]

मं०—आनंद बाबू आये हुए हैं।

क०—बुला लूँ भीतर ?

र०—[अन्यवस्थित होकर] हाँ, हाँ, बुला लो।

क०—उन्हें भेज दो भीतर! [मंगल जाता है।] भाई साहब बहुत अच्छे हैं। शिकार खेलने का शौक। कहते हैं—पढ़ना और शिकार खेलना यही उनकी जिंदगी के दो पहिये हैं।

[आनंद किशोर का प्रवेश। २४ वर्ष का नवयुवक है, सुन्दर और सुडौल। मर्सराइज्ड सिल्क का निकर और नीली सर्ज का गरम कोट पहने हुए हैं। सिर पर एक स्काफ़। हाथ में ग्लव्स और पैरों में पेशावरी स्लीपर। चलने में निश्चयात्मकता। बोलने में मधुर और दृढ़। शिष्टाचार के नियमों में सधा हुआ। व्यवहार में सुरुचि और उत्साह। आत्म-विश्वास में पूर्ण और प्रसन्न तथा हँसमुख। बोलने में तत्पर और स्पष्ट। उसके हाथ में बंदूक और कंधे से कमर तक लटकती हुई कार्ट्रिजेज़ का बेल्ट।]

आ०—मैं अदर आ सकता हूँ ?

क०—आइये भाई साहब।

[आनन्द आगे बढ़ आता है। कनकपरिचय कराती है।]

क०—मेरे भाई श्री आनदकिशोर जी, अंग्रेजी एम० ए० के विद्यार्थी और कुमारी रजनी देवी बी० ए०।

[दोनों परस्पर नमस्कार करते हैं।]

आ०—आपके दर्शन कर प्रसन्नता हुई।

र०—मुझे भी।

आ०—धन्यवाद।

र०—बैठिये! कुर्सी लीजिए। अह, मैं मंगल को पुकारती हूँ।

आ०—नहीं, मंगल की क्या ज़रूरत, यह तो मैं ही कर सकता हूँ। [कोने से कुर्सी उठा कर सामने रखता है।] आप बेत वाली कुर्सी पर बैठ जायँ।

र०—नहीं, मैं ठीक हूँ।

आ०—नहीं, आप ही बैठें। हम लोग तो जंगली जानवरों की तरह घूमने-फिरने वाले हैं। हमारा क्या!

[रजनी के लिए बेत की बड़ी कुर्सी रख रजनी की कुर्सी अपने लिए रखता है।]

र०—आपके लिये जलपान मँगवाऊँ?

आ०—नहीं, धन्यवाद। मुझे अभी कुछ नहीं चाहिये।

क०—भाई साहब का जलपान किसी दूसरी चीज़ से होता है। क्यो भाई साहब, आज कितनों का उद्धार किया?

आ०—कनक, आज कुछ भी हाथ नहीं आया। आठ मील घूमने पर भी बंदूक कधे से उतर न सकी। मालूम नहीं, परिंदों ने भी आर्य्यसमाजियो की तरह संगठन कर लिया था। कोई मिला ही नहीं। रजनी देवी माफ़ कीजिए, मैं शिकार से

लौटा ही था कि मालूम हुआ, कनक यहाँ है। मुझे सीधे यहीं चले आना पडा। मैं कपड़े भी नहीं बदल सका।

र०—तो हानि क्या है? शिकारी की पोशाक बुरी नहीं होती।

आ०—धन्यवाद।

क०—लेकिन एक बात तो मै कहूँगी भाई साहब। यहाँ साहित्य और समाज की बातें होती हैं। यहाँ शिकारी की पोशाक में आना मना है। यह सरस्वती-मन्दिर है।

आ०—[फ़र्श पर पड़े हुए फूलों को देखते हुए] ये बिखरे हुए फूल इस बात का समर्थन करते हैं। लेकिन मेरी बेबसी देखते हुए रजनी देवी जी क्षमा करेंगी।

र०—इसमें क्षमा की कौन सी बात? यह तो सब कनक की शैतानी है। मुझे यों ही बनाती है।

आ०—नहीं, रजनी देवी जी, आज सुबह कनक आपकी बहुत तारीफ़ कर रही थी। कहती थी कि आपने समाज और साहित्य पर इतना विचार किया है कि आप आसानी से कुछ पुस्तकें लिख कर समाज को ठीक रास्ते पर ला सकती हैं। वह कहती है कि यों मैं उनसे चाहे हँसी कर लूँ लेकिन दिल से तो तारीफ ही करती हूँ।

र०—कनक मेरे जीवन के बिल्कुल पास आ गई है। मुझ पर उसका प्रेम होना स्वाभाविक है।

आ०—अच्छा, और सुनिए! आपके विचार जान कर मुझे

बहुत खुशी हुई । मैं भी बहुत कुछ इन्हीं विचारों को मानने वाला हूँ । समाज ने लोगों को अंधा कर दिया है । पुरानी परंपराओं के सामने मनुष्य की सच्ची भावनाएँ उभरती ही नहीं हैं । वह आँख बंद कर पुराने रास्ते पर चल रहा है ।

क०—आप दोनों महामहोपाध्याय हैं । मेरी समझ में तो आप लोगों की बातें आती ही नहीं हैं ।

आ०—अभी तुम बच्ची हो । इन बातों को क्या समझो ? रजनी देवी की भाँति सोचो, समझो, तो कुछ समझ में आये ।

क०—मेरे मन में तो सुख दुख की जो बातें आप से आप आ जाती हैं, वे ही अच्छी लगती हैं ।

आ०—ठीक है, लेकिन दुनियाँ अब बहुत आगे बढ़ चुकी है कनक ! मैंने तुम्हें इतने बार समझाया कि तुम वेल्स पढ़ लो तो तुम ठीक तरह से सोचने लगो लेकिन तुम्हें पढने की फुर्सत ही नहीं । हाँ, मैं एक बात ज़रूर कहूँगा रजनी देवी ! मेरी कनक को अपनी जिम्मेदारी की सारी बातों पर पूरा अधिकार है और फिर इसके साथ बैठ कर कोई उदास रह ही नहीं सकता । इतनी हँसी की बातें करती है कि मालूम होता है—आपके पास एक निर्मल नदी बह रही है...

क०—जिसमें भाई साहब डूबकर भी बच जाते हैं ! [स्वर बदलकर] भाई साहब, ये बातें रहने दीजिए । आप किसलिए मेरी खोज मे आये थे ?

आ०—ओह ! मैं भूल ही गया कनक ! तुम्हे माताजी याद कर रही थीं।

क०—तब तो मुझे जाना चाहिए। रजनी, अब मैं जाऊँगी।

र०—कुछ देर और ठहरो न।

क०—जाने किस काम के लिए माताजी बुला रही है।

र०—जाओगी ?

क०—हॉ, और सुनो अब शायद हम लोग न मिल सकें। हम लोग सुबह पॉच बजे ही यहॉं से जा रहे हैं। तुमसे शायद मिलना न हो सके। यह लो, मेरी भेंट...[माला पहनाती है।]

र०—तुम्हारी याद मुझे भूल नहीं सकती कनक ! तुम मुझे याद रक्खोगी ?

क०—तुम्हें कैसे भूल सकती हूॅ रजनी ? तुम्हें भूलना अपने आपको भूलना है।

आ०—अच्छा, तो मैं भी चलूॅ।

[उठ खडा होता है।]

र०—आप बैठिए न, आपको कौनसी जल्दी है ? आपकी बातें मुझे बहुत अच्छी लग रही हैं। आप थक भी गये होंगे !

आ०—धन्यवाद। अच्छा कनक, मैं थोडी देर बाद आता हूँ। [रजनी से] आपका नौकर है ?

र०—हॉ, हाँ, मैं उसे कनक के साथ भेज देती हूँ। [पुकार कर] मगल !

मं०—जी, सरकार।

र०—जरा कनकजी के साथ जाओ। इन्हे इनके डेरे तक पहुँचा दो।

मं०—बहुत अच्छा!

क०—रजनी! मेरी गलतियाँ भूल जाना और...[कुछ कह नहीं सकती।]

र०—अरे कनक, तुम मेरी प्यारी बहिन हो। तुम कैसी बातें करती हो!

[कनक मौन नमस्कार करके जाती है। रजनी उसे दरवाज़े तक जाकर देखती है।]

र०—[लौटते हुए] कनक बहुत अच्छी है। मैं उसके प्रेम मे अपने आपको भूल गई थी। मैंने समझा था कि ससार में मेरी एक बहिन भी है।

आ०—यह आपकी उदारता है। नहीं तो इस दुनियाँ में कौन किसे मानता है! सब अपने मतलब से प्रेम करते हैं।

र०—आप कितनी सच्ची बात कहते हैं। मैं भी यही सोचती हूँ लेकिन कनक को प्यार करने में मेरी उदारता नहीं, यह तो कनक का अधिकार है।

आ०—[बैठते हुए] आप इसके बाद मिलती तो रहेंगी कनक से?

र०—मैं कह नहीं सकती।

आ०—क्यों?

र०—मैंने अपने जीवन का रास्ता ही बदल दिया है।

आ०—ओह, रास्ता बदल दिया है? मैं जान सकता हूँ?

र०—आप मेरे विचारों से बहुत कुछ सहमत हैं इसलिए मैं आपके सामने अपने हृदय की बात रख सकती हूँ।

आ०—हाँ, हाँ, जरूर।

र०—आप जानते हैं, मैंने आपको रोकने का साहस क्यों किया! मैं इस समय बिल्कुल अकेली हूँ किन्तु मैं आप से मिल रही हूँ। शायद समाज की कोई दूसरी लडकी इन परिस्थितियों में आपसे न मिलती।

आ०—मैं आपसे सहमत हूँ।

र०—मैंने सब परिस्थितियों का बधन तोड दिया है। मैं बिल्कुल अकेली हूँ।

आ०—आपके परिवार के लोग?

र०—मेरे परिवार में है ही कौन? माँ बचपन ही में चल बसी थीं। भाई-बहन कोई है ही नहीं। पिताजी हैं, वे भी आज जालंधर चले गये।

आ०—हाँ, कनक कह रही थी कि आप पिताजी के साथ हैं। फिर पिताजी आपको छोड कर चले गये?

र०—वे जा तो नहीं रहे थे, लेकिन मैंने ही उन्हे चले जाने

को कहा। मैं उनका आदर करती हूँ पर उनके विचारों से सहमत नहीं हूँ।

आ०—क्या मैं पूछ सकता हूँ कि उनके विचार कैसे हैं?

र०—वे मुझे समाज के बंधन में बाँधना चाहते थे। मैंने इससे इन्कार कर दिया। मुझे समाज का बंधन पसंद नहीं है आनंदजी। हमारा समाज बहुत गिरा हुआ है। मैं उस समाज से दूर रहना चाहती हूँ।

आ०—इसमें शक नहीं कि समाज के बहुत से बंधन बुरे हैं जो मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकते हैं।

र०—और मैं समझती हूँ कि इन बंधनों ने ही हमारे समाज को खराब कर रक्खा है।

आ०—रजनी देवी, आपके इन विचारों को सुनकर तो मुझे ज्ञात होता है कि आपने हमारे समाज की दशा को ठीक पहिचाना है। और आप ही आगे बढ़ेंगी समाज को उठाने के लिए। मैं आपसे बिल्कुल सहमत हूँ।

र०—और मैं कहती हूँ आनंदजी कि हमारे समाज का गिरना उतना बुरा नहीं है जितना कि गिरकर उसका न उठना है। मनुष्य अभी तक का सोचा हुआ रास्ता क्यों नहीं बदल देता? वह समाज की चिंता क्यों करता है? हवा का भी कोई समाज है? सूरज की किरनें भी किसी बंधन में हैं? आग भी रस्सी से कसी हुई है?

आ०—रजनी देवी, यह बात तो सही है लेकिन आप यदि क्षमा करें तो मैं एक बात कहूँ कि आप सब कुछ कर सकती हैं लेकिन समाज को छोडना एक बडी भूल होगी। आप सब कुछ करें लेकिन समाज को न छोड़ें।

र०—जब आप मनुष्य के स्वतत्र होने पर मुझसे सहमत हैं तो समाज तो उस स्वतत्रता का बधन है।

आ०—सही है लेकिन मनुष्य एक समाज का प्राणी है। वह राबिंसन क्रूसो बनकर बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। उसे समाज के बीच रहना जरूरी हो जाता है। जब वह सभ्यता की चोटी पर चढने की कोशिश कर रहा है तो वह अकेला कैसे रह सकता है? उसे अपनी बुराइयो से लड़ना है और अपनी कमज़ोरियो को दूर फेंकना है। क्या आप यह नहीं मानतीं कि आप इस कशमकश से भाग नहीं सकतीं? इस विज्ञान की उन्नति के ज़माने में जब ससार का एक भाग दूसरे भाग से बिजली के हल्के करेंट से भी जुड गया है तब आप इस बढते हुए परिवार से भाग कर कहीं नहीं जा सकतीं और अगर आप एक मिनट के लिए चुपचाप बैठीं कि समाज अपने शरीर से आपको नाखून की तरह काट कर फेंक देगा। समाज की हानि नहीं होगी, आप कहीं की नहीं रहेगी।

र०—और अगर समाज गलत रास्ते पर हो तो?

आ०—गलत रास्ते पर होते हुए भी समाज की ताकत कम नहीं है। आप में शक्ति हो तो समाज से लड जाइए। एक नया

'सोशल आर्डर' सामने रखिए। लेकिन समाज से मुँह मोड़ कर एकांत में चले जाना तो अपनी हार स्वीकार करना है। यह तो एक 'एस्केप' [escape] है। आप भाग कर छिपना चाहती हैं जिससे समाज की ताकत का सामना आपको न करना पड़े। मैं तो समझता हूँ आपको पूरी ताकत से इसका सामना करना चाहिए। मेरे सामने भी यही सवाल है। मैं समाज को एक बिगड़ा हुआ जानवर समझता हूँ। अगर मैं इसे पुचकार कर अपने वश में नहीं कर सकूँगा तो इसे ऐसी गोली मार दूँगा कि वह तकलीफ से कराहने लगे। मैं इससे अगर दूर भागूँगा तो यह मुझे डरा हुआ मान कर, लपक कर मेरा पीछा करेगा और मुझे बुरी तरह काट लेगा। आप देखती हैं ये निशान? [कलाई दिखाते हुए] ये एक भालू के पंजे हैं। शिकार करते समय मेरा पैर एक गढ़े में चला गया और मैं पीछे गिरा तो भालू ने समझा कि मैं भाग रहा हूँ। उसने मुझ पर हमला कर ही दिया। लेकिन दूसरे ही क्षण मैंने अपने सधे हुए निशाने से उसे खत्म कर दिया।

र०—आप बहुत बहादुर हैं!

आ०—धन्यवाद, लेकिन आप सोच लीजिए कि यह समाज आपके यहाँ चले आने पर आप पर हमला करेगा। आपके सामने न जाने कितनी समस्यायें खड़ी करेगा। मुमकिन है आप पर कलंक भी लगा दे।

र०—मैं इसकी चिंता नहीं करती।

आ०—आपके चिंता न करने से वह चुप तो रहेगा नहीं। समझेगा वह जो कुछ कह रहा है, सब सही है। तभी तो आप चुप हैं। आप इसे एक तमाचा नहीं मार सकती? जो आदमी समाज को तमाचा मार सकता है, समाज उसके सामने कुत्ते की तरह दुम हिलाने लगता है। ऐसा है यह जानवर!

र०—लेकिन यह जानवर रोगी है, इसमें कीड़े पड़ रहे हैं। इसका अग अग सड़ रहा है। आप जानते हैं, सड़ी हुई चीज को पास रखने से बीमारी फैलती है। मैं ऐसे सड़े हुए समाज को क्यों अपने पास जगह दूँ? इसमें देश के नौजवान लडको को आगे बढाने की ताक़त नहीं है। इसमें किसानों की हालत सुधारने का माद्दा नहीं है। इसमें लड़कियों को विवाह करने की पसदगी नहीं है। सब कुछ ऐसा हो रहा है जैसे भट्टी की चिमनी से घुट-घुटकर धुआँ निकल रहा हो—जिस से देखने वालों की आँखें भी अधी हो रही हैं।

आ०—तो इस भट्टी में दस मन कोयला झोंक दीजिए जिसमें आग की लपट निकल पडे और भट्टी की सारी अधजली चीजें एक बार ही जल जायँ। चुप बैठने से तो धुआँ कलेजे तक भर जायगा और आप साँस भी न ले सकेंगी।

र०—आपकी बात बहुत हद तक सही है आनद जी! लेकिन एक बात है। यह समाज किसी भी नये विचार को अपने भाले की नोक जैसी उँगली उठाकर उसी समय नष्ट कर

देता है क्योकि यह अपनी ही तरफ देखता है। अपने से बाहर देखने के लिए इसके पास आँखें ही नहीं हैं। फिर यह बूढ़ा समाज अब भी कितना स्वार्थी है! इसकी रुपयों पैसों वाली नीति मुझे पसंद नहीं। इस जीवन से ऊपर उठकर इसका आदर्श ही नहीं है। मामूली सुखों मे वह हँसता है और थोड़े से दुःख से ही रोने लगता है।

आ०—यदि सच पूछा जाय तो जीवन का आनंद संसार से लड़ने-भिड़ने मे ही है जिसमें कभी हँसना पड़ता है, कभी रोना पड़ता है। सुख-दुःख तो उसे नहीं होते जो मुर्दा है। पड़ा है जमीन पर। कोई उस पर रो ले, या हँस ले। कोई उसे फूलों की सेज पर सुला दे, या काँटो पर डाल दे। उसमें जीवन नहीं है तभी तो ऐसा है।

र०—आनन्द जी! मै मनुष्य के हृदय को सुख दुःख से ऊँचा रखना चाहती हूँ। लहर की तरह बह जाना मनुष्य को शोभा नहीं देता। उसे होना चाहिए चट्टान की तरह दृढ़ और अटल। मैं चाहती हूँ कि मनुष्य स्वतत्र हो। वह अपनी इच्छा मे किसी का ग़ुलाम न हो। अगर वह ग़ुलाम हो तो उसमें और पालतू जानवरों में अंतर ही क्या रहा?

आ०—रजनी देवी, मैं भी मानता हूँ कि मनुष्य स्वतंत्र हो लेकिन यदि वह अपने सिद्धातों का पक्का है तो वह समाज को तोड-फोड कर फिर से बनाये, नये सिद्धात रचे, नये विचार सोचे।

ईश्वर देखे कि उसने मनुष्य को दुनिया में कीडे की तरह नहीं भेजा। भेजा है एक गढ़नेवाले के रूप मे। मनुष्य खुद ईश्वर बने रजनी देवी, वह अपनी जिम्मेदारी समझे।

र०—यहाँ हम दोनों सहमत हैं आनंदजी। अंतर सिर्फ इसी बात में है कि आप इन विचारों को रखते हुए समाज चाहते है और मै एकात चाहती हूँ। समाज दुर्बल है, बच्चे की तरह। उससे शासित होना मुझे अच्छा नहीं लगता। और फिर सच पूछिए तो पश्चिम की सभ्यता मुझे पसद ही नहीं है। यह सभ्यता भारतीय नहीं हो सकती। जिस तरह गुलाब का फूल कमल नहीं हो सकता और कमल का फूल गुलाब नहीं हो सकता उस तरह यह पश्चिमी सभ्यता भी भारतीय नहीं हो सकती। इससे हमारे शरीर को सुख भले ही मिले पर आत्मा को सुख कभी नहीं मिल सकता।

आ०—रजनी देवी, आप विदुषी है, आपने बहुत ऊँची बात कही है। मै तो अब आपका आदर और भी अधिक करता हूँ आपके इन विचारो के लिए।

र०—धन्यवाद। इसीलिए मै इस सडते हुए समाज से हट-कर यहाँ चली आई हूँ। अब जीवन के दिन यहीं बिता देना चाहती हूँ।

आ०—लेकिन रजनी देवी, मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप समाज को चलकर बतलाएँ कि आपने इस सभ्यता मे बढकर भी इसके दोषों को कितनी अच्छी तरह से पहचाना है। आपकी

आवश्यकता हमारे समाज को है। ससार के इतिहास को देखिए, जिन जिन विचारकों ने सत्य खोज कर निकाले हैं उन्होने समाज मे आकर उसका प्रचार किया है। गौतम बुद्ध, ईसा को देखिए, वे एकात सेवी होकर नहीं रहे।

र०—ओह, आप कितने बड़े-बड़े महात्माओं के नाम ले रहे हैं। मेरे विचारों के सिलसिले में इनके नाम जोड़कर इन्हें अपवित्र न कीजिए, आनन्दजी।

आ०—आपके विचारों की पवित्रता में किसे विश्वास नहीं होगा ? यह तो विचारों का संसार है। यहाँ विचार से ही आदमी छोटे और बड़े होते हैं।

र०—लेकिन मेरे विचार में अभी ताकत कहाँ आई है ?

आ०—यह ताक़त समाज के भीतर जाकर ही आयेगी। समाज की समस्याएँ समाज में रह कर ही हल की जा सकती हैं। समाज से बाहर रह कर नहीं।

र०—लेकिन साधना के लिए एकात की आवश्यकता है आनन्दजी।

आ०—आप भी ठीक कहती हैं, रजनी देवी ! जैसी आपकी इच्छा, लेकिन आप मेरे दृष्टिकोण पर भी विचार करें।

र०—नहीं, आप भी ठीक कहते हैं आनन्दजी। आप जैसा विद्वान मुझे अभी तक नहीं मिला। कितना अच्छा होता यदि हम लोग अधिक मिल सकते।

आ०—रजनी देवी, आप मुझे इतना आदर दे रही हैं इसके लिए धन्यवाद लेकिन हम लोग कल ही जा रहे हैं।

र०—ओह, यदि मुझे ज्ञात होता कि आप इतने ऊँचे विचार के हैं तो मैं कनक से कह कर उसे और आप लोगों को और कुछ दिन रोकती। सच! आपसे मिल कर प्रसन्नता हो रही है।

आ०—मुझे भी आज बहुत आनंद हो रहा है। आपने मेरे नाम को सार्थक कर दिया। मै अभी तक बहुत-सी पढी-लिखी लड़कियो से मिला पर आपके समान बुद्धि मैंने किसी मे भी नहीं पाई। आपसे मिल कर मैं समझ रहा हूँ कि मेरा यहाँ आना सफल हुआ।

र०—आप मुझे लज्जित कर रहे हैं। आपके बहुत से विचार मेरे मस्तक में घूम रहे हैं और मैं प्रभावित भी बहुत हुई हूँ। आप पत्रों से तो मुझे अपने विचार लिखते रहेगे? मेरा पता...

आ०—मुझे मालूम है। अच्छा, आज्ञा दीजिए।

र०—आपको बहुत देर हो गई। मुझे इसके लिए क्षमा कीजिए।

आ०—मुझे क्षमा कीजिए कि आपको अपने कामों से इतनी देर तक रोक रक्खा।

र०—आपके मिलने से बढकर और कौन काम होता?

आ०—[उठता है और कोने से अपनी बंदूक उठाता है ।] आज यह यों ही रही बोझ बन कर—

र०—हिन्दू स्त्री की तरह ?

[दोनों हँस पड़ते हैं ।]

आ०—कनक झूठ कहती थी कि आपको हँसी नहीं आती ।

र०—कनक बेचारी बहुत अच्छी लड़की है ।

आ०—यह आप जानें । अच्छा, नमस्कार ।

र०—[रजनी नमस्कार के लिए हाथ उठाती है । रोककर] सुनिए, आप एक बात याद रक्खेंगे ?

आ०—क्या ?

र०—कनक से मेरा बहुत बहुत प्यार कहे ।

आ०—[हँसकर] जरूर । [नमस्कार करके जाता है, रजनी कुछ देर तक मौन खड़ी सोचती है । फिर उस दिशा की ओर देखती है जिधर आनंद गया है । एक क्षण बाद पुकार कर] मगल !

मं०—जी, सरकार ।

[मंगल आता है ।]

र०—आनंद बाबू जो अभी यहाँ आये थे, गये ?

मं०—जी हाँ, वह जा रहे हैं । [नेपथ्य में संकेत]

र०—देखो, उन्हें जरा बुलाना ।

मं०—बहुत अच्छा । [जाता है]

र०—[सोचती हुई] आनंदजी —[फिर कोने के टेबुल की ओर जाती है और कुछ काग़ज़ ढूँढने लगती है। कुछ काग़ज़ लेकर आती ही है कि आनंद का प्रवेश।]

आ०—आपने मुझे बुलाया था ?

र०—क्षमा कीजिए। मैं चाहती थी कि आप मेरे लिखे हुए कुछ विचार अपने साथ ले जायँ और इन पर अपनी राय लिख कर भेजने की कृपा करें।

आ०—जरूर। आपने मुझे इस योग्य समझा इसके लिए धन्यवाद।

र०—नहीं, आप सब तरह से योग्य हैं। [कागज़ के पृष्ठ देती है।]

आ०—अब जाऊँ ? नमस्कार।

र०—[कुछ लज्जा से] नमस्कार! देखिए, रात बहुत अँधेरी है।

आ०—शिकारी अँधेरे से नहीं डरता।

[आनंद का प्रस्थान।]

र०—कनक और आनद...कनक और आनद...कितने अच्छे! कितने अच्छे! [कमरे में चारों ओर देखती है। सितार पर दृष्टि पड़ती है। उतारती है। उसके टूटे तारों को फिर से खींच कर खूँटियों से बाँधती है। ठीक होने पर एक तार बजा देती है। फिर सितार को उठा कर जहाँ बंदूक रक्खी थी वहीं

रख देती है। उसे देखती है फिर नौकरानी को पुकारती है।]
केसर !

के०—[भीतर से] आई बीबी जी !

[केसर आती है।]

र०—केसर ! कनक भी गई और उसके भाई आनंद भी।

के०—हाँ बीबी जी, सुबह से ही उनके चलने की बात थी।

र०—केसर, कनक बहुत अच्छी है न ?

के०—हाँ, बीबी जी।

र०—इन पंद्रह-बीस दिनों मे तो वह बिल्कुल ही हिलमिल गई थी। वह तो हम लोगों के आने से पहले ही यहाँ थी।

के०—हाँ, बीबी जी।

र०—केसर ! कनक के भाई को पढ़ना है न ? उन्हें इम्तहान में बैठना है।

के०—इम्तहान क्या बीबी जी ?

र०—इम्तहान—एँ...एग्जामिनेशन...परीक्षा, परीक्षा।

के०—क्या बीबी जी ?

र०—कुछ नहीं। अब हम लोग यहाँ अकेले रह गये, सबसे अलग।

के०—हाँ, बीबी जी।

र०—तुझे डर तो नहीं लगता ?

के०—नहीं, बीवी जी।

र०—हाँ, डरने की क्या बात है ? हम लोगो को अकेले रहने की आदत डालनी चाहिए। मगल कहाँ है ?

के०—बाहर है, बीवीजी—बुलाऊँ ?

र०—हाँ, बुलाओ।

[केसर जाती है।]

र०—[फूलों की माला जो टेबल पर पड़ी है उसे हाथ में लेते हुए] कनक, पिताजी...आ—नं—[द पूरा नहीं कह पाती कि केसर का मंगल के साथ प्रवेश।]

र०—मगल।

मं०—जी, सरकार।

र०—मंगल ! बाबूजी जाते वक्त कुछ कह गये हैं ?

मं०—हाँ, सरकार। कह रहे थे जी कि जैसे ही तबियत ऊबे, हमे खबर देना और बीबीजी का ध्यान रखना। कोई तकलीफ न होने पावे।

र०—अच्छा !

मं०—और जी अपने साथ आपकी तस्वीर भी ले गये हैं। और जाते-जाते उनकी आँखों में आँसू भी थे जी।

र०—[सोचते हुए] पिताजी मेरा फोटो ले गये हैं।... पिताजी...[रुक कर] मगल !

मं०—जी, सरकार।

र०—तुझे डर तो नहीं लगता ?

मं०—नहीं, सरकार। काहे का डर जी ? कौन बात का डर?

र०—हाँ, वही तो मैं कहती हूँ। कितना बजा होगा ?

मं०—दस बजते होंगे जी।

र०—अच्छा, तुम अब जाओ। खबरदारी से सोना।

मं०—जी, सरकार।

[जाता है।]

र०—केसर, तुम अंदर के कमरे में सोना खबरदारी से। समझी, मैं यहाँ सोऊँगी।

के०—दूध और फल नहीं खायँगी बीबी जी ?

र०—नहीं केसर, मुझे कुछ नहीं चाहिये।

के०—कुछ तो खा लीजिये, बीबी जी।

र०—मैं कह चुकी केसर, मैं कुछ नहीं खाऊँगी।

के०—जी, बीबी जी।

र०—जाओ तुम।

के०—अच्छा, बीबी जी।

[जाती है।]

र०—[गहरी साँस लेकर] जीवन का पहला अनुभव। अकेली, सब से अलग। मैंने कहा......साधना के लिए एकांत की आवश्यकता है......आनंद बाबू ने कहा—समाज एक बिगड़ा हुआ जानवर है !—अगर मैं इस जानवर को पुचकार

कर वश में न कर सकूँगा तो ऐसी गोली मार दूँगा कि वह तकलीफ़ से कराहने लगे। कितनी शक्ति......कितनी आत्म-दृढ़ता।......मैं समाज में चली जाऊँ...? जाऊँ.. ? नहीं नहीं, मैं यहीं रहूँगी......यहीं रहूँगी। यहीं रहूँगी। [सोचते हुए पिताजी के तैल-चित्र के पास जाकर] पिताजी, मैं यहीं रहूँगी। मैं दुनियाँ को दिखलाना चाहती हूँ कि सुख कहाँ और किसमें है। लेकिन आपकी आँखों में आँसू......पिताजी ! [भावावेग से हट जाती है और अँगीठी के पास जाती है। बैठकर सोचते हुए] आ... नं...द...ओह ! कैसा जी हो रहा है ! [सोचती है। पुस्तक पढ़ने की कोशिश करती है। व्यर्थ। पुकार कर]—केसर,

के०—[भीतर से] जी, बीबी जी।

[आती है।]

के०—आप सोईं नहीं बीबी जी ?

र०—नींद नहीं आ रही है, केसर। तू कुछ बातें कर सकती है ?

के०—जी बीबीजी—पर सो जाइए। रात बहुत हो रही है, नहीं तो तबियत ख़राब हो जायगी।

र०—नहीं केसर, कुछ तबियत ख़राब नहीं होती ! [रुक कर] रात बहुत अँधेरी है।

के०—जी, बीबी जी।

र०—इस रात में भी लोग आते जाते हैं।

के०—सब सो रहे हैं, बीबी जी। आप सो जाइए।

र०—अच्छा केसर, तू जा। मैं भी सोने की कोशिश करती हूँ।

[केसर जाती है—कुछ क्षण तक रजनी अँगीठी के पास बैठी रहती है। फिर धीरे धीरे उठ कर लैंप की बत्ती मंद करती है। लेट जाती है पर एक क्षण बाद पुकार उठती है।] केसर !

के०—जी, बीबी जी [आलस्य भरा स्वर।]

र०—पीछे का परदा ठीक तरह से बाँध दिया है ?

के०—जी, बीबी [मंद स्वर]

र०—तू सो जा। ......

[रात का सन्नाटा। हवा ज़ोर से बहती है। एक मिनट तक शांति रहती है फिर रात के अंधकार में से एक चीत्कार आती है। "दौड़ो दौड़ो, बचाओ"। रजनी चौंक कर उठती है। तेज़ी से लैंप की बत्ती तेज़ करती है। और पुकारती है—मंगल...मंगल]

[केसर और मंगल का घबड़ाए हुए प्रवेश।]

र०—यह कैसी आवाज़ है ?

मं०—कोई आवाज़ तो नहीं जी !

के०—बीबी जी, आप सोते में तो नहीं चौंक पड़ीं ? यहाँ कोई आवाज़...नहीं है।

र०—[अपने ऊपर हँस कर] मै चौंक उठी ? अच्छा, तुम लोग जाओ, मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है ! [दोनों जाते हैं।]

[रजनी लैंप की बत्ती कम करने के लिये जाती है परंतु विना किये ही लौट आती है। एक क्षण बाद फिर आवाज़ बिल्कुल पास आ जाती है।] "दौड़ो दौड़ो बचाओ।" [भाग दौड़ की आवाज़ फिर चीत्कार !] ओह मेरी शशि...मेरी शशि [रजनी फिर चौंक उठती है। घबराहट से पुकारती है] मगल...मगल

[मंगल और केसर दोनों का फिर प्रवेश।]

मं०—सरकार कोई रो रहा है। आप सच कहती थीं जी।

के०—बीबी जी, किसी ने बेचारे गरीब को मार डाला।

र०—यहीं पास ही है। कौन है.. ओह.. अब क्या होगा ? मगल देखो, कौन है, उसे बचाओ।

[फिर वही आवाज़ 'मेरी शशि...मेरी शशि।]

र०—मंगल, यहीं अपने डेरे के पास है, देखो कौन है। बत्ती ले जाओ [संदूक से रिवाल्वर निकालती है।] मेरे पास रिवाल्वर है। तुम बाहर जाओ... ।

मं०—जी, सरकार !

[जाता है।]

र०—केसर !

के०—बीबी जी !

र०—यह क्या हो रहा है ! बाबू जी के जाने के बाद ही यह सब क्या हो रहा है ?

[रिवाल्वर हाथ में लिये बाहर दरवाज़े तक जाती है।]

के०—बीबी जी, आप बाहर न जायँ ।

र०—[लौट आती है ।] केसर यह हो क्या रहा है ?

के०—बीबी जी, किसी का बच्चा...... ।

[बाहर से आवाज़—'चलो बुड्ढे, अंदर चलो—डेरे में ।' बुड्ढे की कराहती हुई आवाज़...'मुझे कहीं न ले चलो...मैं कहीं न जाऊँगा...मेरी शशि...मेरी शशि ।' फिर मंगल की आवाज़—'चलो भी...फिर देख लेना । सरकार के पास चलो ।' मंगल का एक बुड्ढे आदमी के साथ प्रवेश । बुड्ढा लँगड़ाता हुआ आता है । उसके घुटने के पास ख़ून के धब्बे । आते ही वह ज़मीन पर गिर पड़ता है । रजनी को देखकर जैसे कराह कर बोल उठता है—] ओह, वे लोग ले गये—उस शशि को ले गये ।

र०—[पास आकर बैठती हुई] किसे ले गये ? ऐं—किसे ले गये ?

बु०—ले गये—मेरी शशि को ले गये—निर्दयी, पापी, डाकू...ले गये !

र०—मंगल ! तुम बाहर पहरा दो । देखो, कोई आये नहीं ।

बु०—अब कौन आएगा ! ओह, भाग गये बदमाश... भाग गये ! शशि को ले गये । ओह, कोई ला दो मेरी शशि को...!

र०—ठहरो, ठहरो...बाबा...ठीक बतलाओ...कौन शशि ?

[बंदूक की आवाज़ आती है ।]

बु०—ओह, किसी ने बंदूक...बंदूक...मैं—जाऊँगा! जाऊँगा!
शशि...शशि...ओह, मुझे बचाओ।

र०—हाँ, हाँ, तुम्हें कोई कुछ नहीं कर सकता। मेरे पास यह रिवाल्वर है...पहिले बतलाओ—कौन शशि?

बु०—[रिवाल्वर देखकर] हाँ, हाँ बतलाता हूँ......
मेरी बेटी...उसे उठा ले गये...बचा लो, मेरी शशि को!

र०—शशि को उठा ले गये?

बु०—हाँ, मेरी शशि को...!

र०—कौन उठा ले गया?

बु०—बदमाश...छीन ले गये! मेरे घुटने पर लाठी की चोट की और जब मैं गिर पड़ा तो वे लोग उसे उठा ले गये!...मेरी शशि...मेरी शशि...! [उठ कर बैठ जाता है।] बचा लो, मेरी शशि को...

र०—कहाँ ले गये हैं वे तुम्हारी शशि को?...

बु०—जाने कहाँ ले गये! बहुत दिनों से वे लोग मेरे घर आते थे। [दर्द से कराहता है]...ओह! कहते थे, शशि की मेरे साथ शादी कर दो। मैंने एक दिन फटकार दिया......आज वे लोग गिरोह बनाकर आये......[कराहते हुए] मेरी शशि को उठा ले गये...!

र०—[शून्य में देखती हुई] ओह! स्त्री अपनी रक्षा भी

नहीं कर सकती !......[बुड्ढे से] वे लोग किस तरफ गये...?

बु०—अँधेरे मे कुछ दिखलाई नहीं दिया ! जाने कहाँ ले गये ! मैं भी जाऊँगा......मैं भी जाऊँगा !

र०—अरे, तुम्हे चोट लगी है ! तुम कहाँ जाओगे ?

बु०—जाऊँगा......जाऊँगा, जहाँ मेरी शशि है ! [भागने की चेष्टा करता है ।]

र०—अरे, लोग तुम्हें मार डालेंगे...ठहरो, ठहरो...।

बु०—नहीं...नहीं.. मर जाऊँ तो अच्छा है ! मेरी शशि ...मेरी शशि ! मेरी एक ही लडकी शशि...!

र०—[दुहराती हुई] एक ही लडकी शशि...!

बु०—[रजनी की बात पर ध्यान न देते हुए] शशि, बेटा, मैं भी आता हूँ । बदमाशो को मार डालूँगा...

[क्रोध और दु:ख से लँगड़ाता हुआ जाता है । नैपथ्य में मंगल की आवाज़—'वहाँ मत जाओ जी...।' रजनी अवाक् हो कर नैपथ्य की ओर देखती रह जाती है । कुछ क्षणों के बाद—लौटती हुई......]—यह हिंदू समाज है, जहाँ लड़कियाँ इस तरह उठा ली जाती हैं, और वे अपनी रक्षा भी नहीं कर सकतीं......! ओह......[रिवाल्वर हाथ में सम्हालती है ।]

के०—नहीं बीबी जी, आप बाहर न जायँ । रात बहुत अँधेरी है ।

र०—ओह, इस बुड्ढे की एक ही लड़की !

के०—बीबी जी...बदमाश लोग हैं ।

र०—इन बदमाशों को सजा मिलनी चाहिए, नहीं तो ये शह पाते जायँगे ।

के०—बीबीजी, जाने कहाँ गये होंगे वे डाकू !

र०—अँधेरी रात......आज ही अँधेरी रात होनी थी। बेचारा बूढा......बेचारी शशि। उसके भाग्य की ही अँधेरी रात थी।......[अस्थिरता से कमरे में टहलती है।] उसके भाग्य की अँधेरी रात......

के०—बीबीजी, सुबह होगी तो देख लीजिएगा ।

र०—सुबह क्या पता चलेगा ?

के०—न चले बीबीजी.. ...पर रात अँधेरी है......आप आराम कीजिये ।

र०—क्या आराम करूँ ! नींद हराम हो रही है ।

के०—नींद तो सचमुच न आयेगी बीबीजी। यहाँ बदमाश बहुत हैं ।

र०—मेरे पास भी उनकी दवा है, केसर। [रिवाल्वर दिखलाती है।]

के०—बीबीजी, अब आप आराम कीजिए !

र०—[पुकार कर] मंगल !

मं०—जी, सरकार [आता है।]

र०—मंगल, उस बुड्ढे का क्या हुआ ?

मं०—सरकार, मेरे रोकने पर भी वह भागता हुआ चला गया और अँधेरे में घुप होगया जी।

र०—तब तो वह लड़की मिल चुकी। मालूम होता है, यहाँ ऐसी बातें अक्सर होती हैं।

मं०—होती होंगी सरकार।

र०—अच्छा तुम जाओ, आज सोने का काम नहीं है। मेरा जी न जाने कैसा हो रहा है!

मं०—सरकार, आप सो जायँ। मैं जागता रहूँगा। पहरा देता रहूँगा जी।

र०—अच्छा, तुम जाओ।

मं०—बहुत अच्छा सरकार।

[जाता है।]

र०—आज यह पहली रात बड़ी खराब रही। [कुर्सी पर बैठ जाती है।] केसर, उस बुड्ढे के एक ही लड़की थी...शशि... उसे डाकू ले गये!

के०—हाँ, बीबी जी।

र०—ओह, बेचारा बूढ़ा मर जायगा अब तो।

के०—नहीं मरेगा बीबी जी...आप सो जायँ। तबियत खराब हो जायगी।

र०—केसर, तुम जाओ।

के०—नहीं बीबीजी, जब तक आप न सोयेंगी तब तक मैं

यहीं रहूँगी। मैं नहीं सोने की।

र०—मैं [ज़ोर देकर] मै कहती हूँ, तुम जाओ। जरूरत होगी तो बुला लूँगी।

के०—अच्छा, बीबी जी।

[जाती है।]

र०—[सोचते हुए] शशि...एक ही लड़की...बूढा पिता......!

[सोचती सोचती कुर्सी पर ही सिर रख लेती है। बाहर से आवाज़ आती है—'मंगल...मंगल..']

मं०—कौन है ?

आ०—मैं हूँ आनद। यहाँ तो कोई नहीं आया ?

मं०—[चौक कर] ओह आनंदजी ! [पुकार कर] मगल !—[नैपथ्य से] जी, सरकार !

[मंगल आता है।]

र०—कौन है ? आनंद जी ?

मं०—जी हाँ, सरकार।

र०—उन्हे जल्दी अदर ले आओ।

मं०—बहुत अच्छा, सरकार।

[जाता है।]

र०—[सोचते हुए] आनद......जी......

मं०—[बाहर] चलिए। आप अंदर चलिए, सरकार।

[बाहर से टार्च की रोशनी धीरे-धीरे आती है। आनंद टार्च लिए मंगल के साथ आता है। आनंद सिर्फ क़मीज़ और निकर पहने हुए है। पैर में जूते भी नहीं है। हाथ में बंदूक है और कंधे से होती हुई कारतूसों की पेटी। बाल अस्त-व्यस्त। कमरे में आने पर आनंद टार्च 'आफ़' कर लेता है।]

र०—[व्यग्रता से] आनंद जी, यह यहाँ क्या हो रहा है? मेरी समझ में कुछ नहीं आता !

आ०—आप शात हों। घबरायें नहीं रजनी देवीजी, कुछ नहीं होगा। यहाँ तो सब ठीक है?

र०—हाँ, सब ठीक है।

आ०—आप...?

र०—मैं अच्छी हूँ, बिल्कुल अच्छी हूँ।

[दोनों एक दूसरे को एकटक देखते हैं।]

आ०—यहाँ तो कोई नहीं आया?

र०—आया था।

आ०—[आश्चर्य से] आया था? कौन? कौन आया था?

र०—एक बुड्ढा। मैंने ही उसे बुलवा लिया था। डाकुओं ने उसे घेर लिया था। उसकी लडकी को वे लोग उठा ले गये। शशि को। वह रो रहा था! उसके घुटनों पर लाठियों की चोट थी!

आ०—घुटनों पर लाठियों की चोट थी?

र०—हाँ, उसके कपड़े ख़ून से लाल हो रहे थे।

आ०—अच्छा, मैंने अँधेरे में नहीं देखा।

र०—[आश्चर्य से] आपने अँधेरे में नही देखा ? आपने भी क्या...[रुक जाती है।]

आ०—जैसे ही मैं अपने डेरे पर पहुँचा और अपने कपड़े वदल रहा था वैसे ही मैंने चिल्लाहट और भाग-दौड़ की आवाज़ सुनी। मै उसी तरफ दौड़ा। मैंने जो टार्च की रोशनी की तो उसमें मैंने देखा कि एक लड़की को दो मज़बूत आदमी उठाए लिए जा रहे हैं। मैंने उसी वक्त ललकारा और उन्हें डरवाने के लिए फायर किया। वे लोग उस लड़की को छोड़ कर भागे।

र०—[शीघ्रता से] ओह...शशि बच गई ! बच गई !

आ०—हॉ, मैंने लड़की पर रोशनी फेकी। उसका मुँह उन लोगों ने कपडे से कस रक्खा था। मैं उस कपडे को खोल ही रहा था कि वेचारा बुड्ढा 'शशि, शशि' कहते हुए वहाँ पहुँच गया—शायद मेरे टार्च की रोशनी देखकर। वह बुड्ढा शायद उस लडकी का बाप था। उसे देखते ही लड़की अपने बाप से लिपट गई। मैं बुड्ढे को धीरज देकर और उसकी लड़की उसे सौंप कर चला आया, यह देखने के लिए कि यहॉ तो कोई गडबड नहीं है।

र०—ओह, आनंद जी, आप कितने वहादुर हैं ! आप कितने अच्छे हैं ! अगर आप न होते तो वेचारी शशि को तो वे लोग ले ही गए थे !

आ०—खैर, रजनी देवी, मैंने अपना कर्त्तव्य किया। इसमें बहादुरी की कौन सी बात ?

[अपनी बंदूक हाथों पर तौलता है।]

र०—नहीं आनंद जी, आप कितने साहसी और...वीर पुरुष हैं। आनंद जी, आप बहुत अच्छे हैं।

आ०—ठहरिए, ठहरिए रजनी देवी, आप लोगों को हम जैसे सिपाहियों की ज़रूरत है। ज़रूरत है न !

र०—[सिर हिलाती है, धीरे से] हाँ, है। [फिर ज़ोर से] देखिए न, स्त्री इतनी कमज़ोर हो गई है कि वह डाकुओं से अपनी रक्षा भी नहीं कर सकती !

आ०—इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि आप समाज मे चलकर स्त्रियों को मज़बूत बनाएँ। आपके लिए यह एकात नहीं है।

र०—हाँ, मैं भी समझ रही हूँ आनद जी !

आ०—और देखिए रजनी देवी जी, इन डाकुओं ने आज उस बुड्ढे के यहाँ छापा मारा, कल ये लोग हमारे-आपके घर भी आ सकते हैं।

र०—हाँ, डाकुओं को कौन रोक सकता है ?

आ०—आप लोगों की शक्ति ही इन्हें रोक सकती है। जब इन बदमाशो को मालूम हो जायगा कि किसी लड़की को उठा ले जाने में उन्हे अपनी जान से हाथ धोना पडेगा तो फिर कभी

ऐसा काम करने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ेगी। वे समझेंगे कि स्त्री शक्ति की देवी है, भैरवी है, दुर्गा है।

र०—आप ठीक कहते हैं आनंद जी! [सोचकर] ओह, मैं कहना ही भूल गई...बैठिए...बैठिए...।

आ०—नहीं, धन्यवाद। रात ज़्यादा बीत रही है। आप आराम कीजिए...। इन बदमाशों ने आज आपकी नींद में विघ्न डाल दिया। ये डाकू और बदमाश अपनी बदमाशी से बाज़ नहीं आते। और जब आपको यहाँ रहना है तो आपको बड़ी खबरदारी से यहाँ रहना चाहिए। खास इन्तजाम के साथ। मैं तो कल यहाँ से चला जाऊँगा। आपने अपने अकेले रहने के लिए भयानक स्थान चुना है। खैर, रजनी देवी जी, अब मुझे आज्ञा दीजिए........।

र०—आप ठहरिए न..... मुझे अकेले कुछ...डर मालूम होने लगा है। आप रुकिए न...नहीं नहीं...आप नहीं रुक सकते...मैं आपको कैसे रोक सकती हूँ!

आ०—नहीं, उसकी कोई बात नहीं है। मैं रातभर जाग-कर आपका पहरा दे सकता हूँ।

र०—आपको कष्ट होगा, आनद जी!

आ०—ओह, आप क्या कह रही हैं! जाने दीजिए! मैं अब चलूँ। मेरे पैर में पत्थर का एक टुकडा रास्ते में चुभ गया। अँधेरा था। जरा उसकी देख भाल......

र०—कहाँ? कहाँ? देखूँ? [आनंद के समीप पहुँच जाती है। उसका पैर पकड़ती है।]

आ०—नहीं, आप रहने दीजिए, ठीक हो जायगा।

र०—नहीं, नहीं, देखूँ? [आनंद पैर उठाकर देखता है। पैर की उँगलियों से रक्त निकल रहा है।]

र०—ओह, मैंने तो इसे देखा ही नहीं। मैं अभी पट्टी बाँध देती हूँ।

[चारों ओर देखती हैं फिर शीघ्रता में टेबलक्लाथ फाड़ कर कोने में रखी हुई टेबल पर ग्लास के पानी में भिगो कर पट्टी बाँधती है।]

आ०—ओः, धन्यवाद ! धन्यवाद ! रजनी देवीजी धन्यवाद ! अँधेरे में क्या मालूम होता कि कहाँ पत्थर-कंकड़ है।

र०—आज आपको बहुत कष्ट उठाना पड़ा।

आ०—नहीं, इसमें कष्ट क्या ! यह तो प्रत्येक युवक का जीवन होना चाहिए। विपत्ति में लोगों की रक्षा करना... मुसीबतों का सामना करना, ज़िंदगी से लड़ना। समाज को ऊपर उठाना।

र०—आपने मुझे रास्ता दिखला दिया, आनद जी।

आ०—आप खुद एक विदुषी हैं। आपमें ज्ञान का भडार है। अच्छा, अब आज्ञा दीजिए, चलूँ। तो फिर मैं बाहर मगल के साथ पहरा दूँ? आप अकेली हैं।

र०—नहीं, आप कष्ट न कीजिए। अब कुछ डर नहीं है। आप जाइए।

आ०—ठीक है, और जब तक मेरी बंदूक यहीं पास में है तब तक किसी की हिम्मत नहीं हो सकती कि वह इस ओर नजर भी कर सके। और आज मेरी वदूक की आवाज सुनकर तो सब वदमाश भाग ही गये होगे। दिन में मुझे शिकार नहीं मिला तो ईश्वर ने रात मे मेरी बंदूक को जागने का मौका दिया। [हँसकर] अव यह मेरे कधे पर भारी न होकर हल्की हो गई है, होशियार स्त्री की तरह . ...

[रजनी कुछ कह नहीं पाती।]

आ०—अच्छा, अब जाता हूँ। नमस्ते।

[रजनी मौन नमस्ते करती है।]

आ०—देखिए, किसी वात की जरूरत हो तो मगल को मेरे पास फौरन भेज दीजिए। मैं अपने डेरे मे जागता रहूँगा।

र०—धन्यवाद। [आनंद जाता है। आनंद के जाने पर रजनी कुछ देर तक मौन खड़ी रहती है।] चले गये !.. वीर पुरुष... आनंद [एक एक शब्द को रुक रुक कर कहती है।]...आ...न ...द [खिडकी के पास पहुँचती है।] कितने सुदर! कितने प्रकाशवान !!

[आकाश की ओर नज़र करती है। चंद्रमा का उदय होने जा रहा है। तारे आकाश मे छिटके हुए है। क्षितिज में चंद्रमा दिखलाई पड़ता है। रजनी उसकी ओर देखती है।]

र०—[देखती हुई] कितना सुदर...कितना प्रकाशवान...!
[देखती रहती है। फिर पुकारती है] केसर..... !

के०—आई, बीबीजी।

र०—केसर...

के०—आप सोई नहीं, बीबीजी ?

र०—आज सोना भाग्य में नहीं है। केसर...देख, कितना अच्छा चद्रमा निकल रहा है !

के०—हॉ, बीबीजी।

र०—अगर यह शाम से ही निकल आता तो शशि पर यह आफत क्यों आती ? और ॲधेरे में पैरों में चोट क्यों लगती ? खून क्यों बहता ?

के०—कैसी चोट, बीबीजी.. ?

र०—[सॅभल कर] उस बुड्ढे के पैर मे चोट लग गई थी न ? घुटने के पास खून बह रहा था। उसके कपडे लाल होरहे थे।

के०—हॉ, बीबीजी। उसे तो बहुत चोट लग गई थी।

र०—वही...केसर, तुझे यहॉ बुरा तो नहीं लगता ?

के०—बीबीजी...आज रात की यह बात देखकर तो डर मालूम होने लगा है। न जाने आपका जी कितना कडा है कि यह सब देखकर भी आप यहॉ रहने की सोचती हैं। आज आनंद जी न होते तो खैर नहीं थी।

र०—तू सच कहती है, केसर—

के०—और बीबीजी, मुझे तो उस बूढ़े आदमी को देखकर बाबू जी की याद आ गई। वे भी आपको ऐसा ही प्यार करते हैं! वे तो चले गये जब उन्होंने आपकी सब तरह से यहाँ रहने की तबियत देखी। नहीं तो वह कहीं आपको छोड सकते थे यहाँ? अकेले छोड़ सकते थे?

र०—केसर, बाबू जी बहुत अच्छे हैं।

के०—और बीबी जी, आप घर रह कर भी तो पढ़ सकती हैं। यहाँ कौन ज़्यादा पढ़ाई हो जायगी! आनद जी रोज रोज़ तो आयेंगे नहीं।

र०—[चिढ़कर] तू जा। क्या मैं अकेली नहीं रह सकती?

के०—आप सो जाइए तो मैं चली जाऊँगी।

र०—अच्छा जा, मैं सोती हूँ। [केसर जाती है।]

र०—[चंद्रमा की ओर फिर देखती है।] मंगल...

मं०—[बाहर से] जी, सरकार।

र०—तू क्या जाग रहा है?

मं०—जी, सरकार! आनंद जी कह गये हैं कि मैं जागता रहूँ। कह रहे थे, कल वह जाने से पहले अपने दो नौकरों को यहाँ और छोड जायँगे।

र०—तूने मना नहीं कर दिया?

म०—मैं मना कर ही नहीं सका जी और वह चले गये।

र०—चले गये...चले गये...! [मंगल से] तुझे बाहर

डर तो नहीं लगता ?

मं०—नहीं सरकार, डर काहे का जी। लेकिन आज की बात देख के मुझे डर लगता है जी।

र०—इसमें डर की कौन बात ? अच्छा...सुन...

मं०—बाहर डर की बात तो बहुत है, सरकार...

र०—कुछ नहीं। अच्छा...आनद जी चले गये ?

मं०—जी, सरकार...

र०—तो...[सोचने लगती है।]

मं०—कहिए, सरकार...?

र०—मगल, तू उनके डेरे पर जा। देख, चाँद तो निकल आया। अब सब जगह उजेला है।

मं०—अच्छा, सरकार...

र०—और...और...कनक से कहना कि...रजनी ने कहा है कि...कि...[जल्दी से] मैं भी साथ चलूँगी।

मं०—ओहो...ओहो...साथ चलेंगी ? तब तो क्या बात ! मैं अभी दौड़ के जाता हूँ। [जल्दी से भाग जाता है।]

र०—केसर...

के०—आई, बीबी जी। [आती है।]

र०—केसर, सामान ठीक करो। हम लोग भी कल सुबह चलेंगे।

के०—[खुशी से] वाह बीबी जी ! वाह बीबी जी !

[परदा गिरता है।]

अंधकार

[मार्च १९४२]

नाटक के पात्र

(१) प्रजापति— सृष्टि के रचयिता

(२) विद्याधर— प्रजापति का सहायक

(३) मेनका— स्वर्ग की अप्सरा

(४) माया— प्रजापति की शक्ति

(५) अश्विनीकुमार—उर्वशी के प्रेमी और देवताओं के वैद्य

(६) कश्यप— सप्तर्षियो के नेता

किन्नरियाँ

[स्वर्ग का एक कक्ष। दिव्य प्रकाश। समस्त वातावरण जैसे चंद्र-किरणों से निर्मित है। चारों ओर एक कोमल उज्ज्वलता छाई हुई है। कक्ष का रूप इंद्रधनुष के छोटे-छोटे टुकड़ों से बना हुआ है। सामने दो वातायन मयूर के फैले हुए पुच्छाकार के ढंग के हैं। उनसे आकाश-गंगा की धवल राशि नेत्र-कोरकों की भाँति वक्र दीख रही है। स्फटिक मणि के बने हुए दो-दो हंस वातायनों के दोनों ओर सजे हुए हैं जिनकी अरुण चंचु में मान-सरोवर से लाए हुए अरुण कमल हैं—उन पर ओस की भाँति मोतियों के दाने। देवशिल्पी विश्वकर्मा ने इस कक्ष के बीचोबीच एक सिंहासन बनाया है जिसमें नीलम का फ़र्श और मूँगे का आसन है। वह सिंहासन आरती-पात्र की भाँति बना हुआ है। इन्द्रनीलमणि का गुंबज और हीरकों के स्तंभ। सिंहासन भव्य है जैसे सौंदर्य और अनुराग घनीभूत हो गया है। समीप ही दो तीन छोटी पीठिकाएँ हैं।

एक वातायन खुला हुआ है जिससे वायु-गति दीख रही है। दूसरे वातायन पर किरणों का धवल वस्त्र है जो भैरव राग की भाँति मंद गति से हिल रहा है। संभवतः इंद्र की पुरी देव-धानी में विहार करती हुई देवांगनाओं के केशों से गिरे हुए तरुण कमलों की गंध से उठी हुई समीरण इस ओर प्रवाहित होकर वातायन-वस्त्र को गतिशील कर रही है। कक्ष के कोने से अगरु की गंध वाला श्वेत धूम धीरे-धीरे उठ रहा है। उसके साथ कक्ष में सूक्ष्म उल्लास फैल रहा है। तुलसी की मंजरी के साथ मंदार उत्पल, कुरवक, कुंद और पारिजात पुष्प की मालाएँ स्थान-

स्थान पर सजी हुई हैं। उनके साथ ही मोतियों की मालाएँ हैं जिनसे कांति-जल टपक रहा है। कोने में ध्वजा और पताका।

सिंहासन पर प्रथम प्रजापति मरीचि बैठे हुए हैं। तेज से परिपूर्ण। अत्यंत सूक्ष्म और श्वेत परिधान है जैसे किसी शैल शृंग को स्थान-स्थान पर हिम-राशि ने आच्छादित कर लिया है। वे पुण्य की गरिमा में आसीन हैं। माथे पर पीत मलय की चित्ररेखा। कानों में कुंडल। विशाल नेत्र जिनमें तपस्या की स्वर्ग-श्री झाँक रही है। एक हाथ में नील कमल। दूसरे हाथ में अधिकार का संकेत। कमर में नीला पाट-वस्त्र। गले में तुलसी और रुद्राक्ष की माला जिसमें नीचे हीरक-पदिक है। यही हीरक-पदिक उनके प्रजापति होने का प्रमाण है। पैरों में पादुकाएँ।

प्रजापति के केश खुले हुए हैं। केशों के ऊपर धवल कुंद की माला है जिनसे उनके केश बिखरते हुए भी एक विशेष सौंदर्य में कसे हुए हैं। वे एक क्षण बाद आँखें बंद कर ध्यानावस्थित होते हैं। दोनों हाथों की अंजुलि में नील कमल आगे की ओर सरक जाता है जैसे ईश्वर की वंदना में नीलाकाश कमल का रूप लेकर आगे चढ़ा है। कुछ देर बाद उनके ओठों से ॐ की ध्वनि निकलती है, जैसे शून्य में वायु की सृष्टि हुई है। ॐ की ध्वनि के बाद एक क्षण रुक कर वे प्रभु के स्तवन में धीरे-धीरे एक श्लोक कहते हैं :]

अन्तः प्रविश्य भूतानि यो बिभर्त्यात्म केतुभिः।
अन्तर्यामीश्वरः साक्षात्पातु नो यद्वशे स्फुटम् ॥

[आँखें खोलते हुए] ध्रुवलोक ! इतने लोकों का निर्माण कर चुकने के अनंतर ध्रुवलोक ! सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि ! जैसे मेरी

निर्माण-कला की विजय-श्री अंतरिक्ष में मुस्कुरा उठे। लोकों के मस्तक पर रक्खा हुआ यह मुकुट, ध्रुवलोक! [सिंहासन से उतर कर वातायन से झांकते हुए] कितना सुंदर, कितना गौरव पूर्ण! जैसे विश्वात्मा की पूजा में मैंने एक फूल शून्य में उछाल दिया हो और वह वहीं स्थिर रह गया हो। ऐसा शोभित हो रहा है मेरा ध्रुवलोक! महात्मा ध्रुव, तुम मेरी कल्पना में साकार होकर विश्व के शृंगार हो गए! अमरता के स्तंभ! मेरे मन्वंतर के सब से यशस्वी निर्माण। सब से यशस्वी......एक लोक के अधिपति। ध्रुव...लोक [वातायन से फिर झाँकते हैं।] किंतु सूर्य और नक्षत्र आदि ज्योतिर्गणों की किरणें केवल ध्रुवलोक तक ही पहुँचती है। इसके आगे नहीं। क्यों? क्यों नहीं पहुँचती? [सोचते हैं।] इसलिए कि लोक और अलोक प्रदेश के बीच में एक विशाल पर्वत है, लोकालोक। तीनो लोकों की सीमा उसी पर्वत से बाँधी गई है। लोकालोक पर्वत के ऊँचे उठने से ही भू-भाग के दूसरी ओर अधकार है! अधकार!! भयानक पाप, भीषण दुराचार! [पुकार कर] विद्याधर!

[विद्याधर का प्रवेश। गौरवर्ण, लम्बे केश कलाप, अगराग और पीत पाट-वस्त्र। केश कुंचित और पुष्पों से सुसज्जित। आकर प्रणाम करता है।]

प्रजापति—विद्याधर, एक भूभागमें प्रकाश है, दूसरेमें अधकार!

विद्याधर—किस प्रकार, प्रभु!

प्र०—लोकालोक पर्वत के अधिक ऊँचे होने के कारण सूर्य आदि नक्षत्रों की किरणें केवल ध्रुवलोक तक ही पहुँचती हैं ! शेष मे अंधकार का ही शासन है । केवल अधकार, महाधकार !

वि०—सत्य है, प्रभु !

प्र०—और विद्याधर, जानते हो यह अंधकार क्या है ?

वि०—क्या है, प्रजापति ?

प्र०—[हँस कर] कोई नहीं जानता । केवल मैं जानता हूँ और मेरे आठ भाई प्रजापति । इनके अतिरिक्त यह रहस्य कोई नहीं जानता ।

वि०—क्या रहस्य है, प्रभु ?

प्र०—तुम जानना चाहते हो, विद्याधर ! गायकों के लिए रहस्य की बातें नहीं होतीं । वे रहस्य का गीत बना कर गा देंगे ।

वि०—किंतु प्रभु, अब मैं गायक विद्याधर नहीं । मैं तो अब विश्वात्मा की आज्ञा से प्रभु की सेवा में नियोजित हो गया हूँ । आपकी सेवा में ।

प्र०—[नील कमल को सामने करते हुए] यह नील कमल विश्वात्मा को समर्पित होकर भी नील कमल रहेगा । उसी तरह तुम भी अपना स्वभाव तो नहीं छोड़ सकते । अवसर आने पर विद्याधर केवल गायक विद्याधर हो सकता है ।

वि०—प्रभु, ऐसा नहीं हो सकेगा ।

प्र०—विद्याधर, जल को यदि मैं हिम बना दूँ तो क्या वह

जल नहीं रहेगा ? थोड़ी आँच पाते ही वही हिम फिर जल बन कर बहने लगेगा। तुम भी बहने लगोगे, विद्याधर ! तुम इंद्र के सेवक हो। मायावी का सेवक क्या मायावी नहीं होगा ?

वि०—प्रभु, मैं अपना स्वभाव भूल गया हूँ। कहाँ मैं प्रेम की उपासना में लीन विद्याधर सोमरस के पान में अपने जीवन की तरलता समझता था, आज प्रभु के साधना-कक्ष में आकर तपस्वी हो गया हूँ। गायन के स्थान पर मन्त्रोच्चारण करता हूँ। सोम-रस के स्थान पर प्रभु की मुख-श्री की शोभा का पान करता हूँ।

प्र०—उन्नति करो विद्याधर, यही विश्वात्मा की इच्छा है।

वि०—प्रभु, आपके पथ-प्रदर्शन मे उन्नति ही करूँगा। गायक अब साधक बन गया है, प्रेम अब उपासना बन गया है। मै मधुरालाप के स्थान पर रहस्य सुनने का अधिकारी बन गया हूँ। प्रभु की सेवा मे रहते हुए, निर्माण-कार्य में सहायता पहुँचाते हुए, मैं तो आपके सभी परामर्शों का पात्र बन गया हूँ, प्रभु !

प्र०—ठीक है विद्याधर, तुम प्रियवद हो, कामरूप हो—इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हो। किंतु अधकार का रहस्य बहुत बडी मर्यादा का रहस्य है !

वि०—प्रभु, आप मेरी उत्सुकता बढा रहे हैं। मै सुनने के योग्य हूँ।

प्र०—अच्छा, मैं तुम्हें सुनाऊँगा। तुम विदुष् हो—यह ज्ञान भी प्राप्त करो। किंतु वह अत्यत विश्वस्त और गोपनीय है।

वि०—प्रभु, मेरे समीप आकर वह और भी गोप्य और विश्वस्त बन जायगा।

प्र०—अच्छा, तब तुम्हें सुनाऊँगा। देखो, यहाँ कोई है तो नहीं!

[विद्याधर द्वार तक झाँक कर लौटता है।]

वि०—कोई नहीं, प्रभु!

प्र०—तब सुनो। वायु को प्रथम बार इन शब्दों का भार वहन करने का अवसर आ रहा है। यह रहस्य एकाकीपन से निकल कर आज वायुमडल का स्पर्श करेगा।

वि०—सत्य है, प्रभु!

प्र०—[कुछ निकट आकर] सुनो। मेरे पिता विश्वगुरु ब्रह्मा हैं। हम नव पुत्रों के अतिरिक्त उनके एक कन्या भी हुई। अत्यंत सुंदरी कन्या! उसका नाम जानते हो? स...र...स्व...ती...। मेरी बहन सरस्वती के शरीर से रूप चद्रकला की भाँति आकाश के रोम-रोम में स्वर्ग की सृष्टि करता था। महात्मा ब्रह्मा सरस्वती के पिता होकर भी उसके रूप की——अपनी कन्या के रूप की अवहेलना नहीं कर सके। वे उसे काम-भाव से चाहने लगे, विद्याधर! ओह...हृदय जल रहा है——विश्व में आग लग जायगी! [नील कमल हाथ से फेंक देते हैं।]

वि०—प्रभु, शात हों। अशाति के व्यूह से स्वतंत्र हों, प्रभु!

प्र०—विद्याधर! पिता को इस अधर्म-पथ पर जाते देखकर

हम लोगों ने प्रार्थना की—'विश्वगुरु, यह कलक-पथ है। उस पर अपने पवित्र हृदय को गतिशील कर आप भविष्य की सृष्टि को दूषित न कीजिए। हस के वाहन पर आपका कलुष शरीर पुण्य पर पाप की तरह ज्ञात होगा।' विद्याधर, पिताजी लज्जित हुए और उन्होंने उस कामुक शरीर का परित्याग किया। वही परित्याग किया हुआ कलुष शरीर अधकार है विद्याधर, वही कलक शरीर अधकार है। यह मेरे पिता के दुराचरण की कथा है। पुत्र मरीचि को पिता के कलक को मिटाना है। मैं इस अधकार का नाश करना चाहता हूँ।

वि०—आप धन्य है, प्रभु! पिता के महान् पुत्र। किंतु आप अंधकार का नाश किस प्रकार कर सकेंगे?

प्र०—[कुछ रुक कर] सोच रहा हूँ किस प्रकार करूँ! स्वर्ग और पृथ्वी का मध्य-भाग की ब्रह्माड कहलाता है। तुम भी वहाँ रहते हो और वहीं सूर्य की स्थिति भी है। तुम जानते होगे कि सूर्य इसीलिए तो मार्तंड कहलाता है कि वह अधकारमय मृत ब्रह्माड में वैराज रूप से प्रविष्ट होता है और हिरण्यमय अड से प्रकट होने के कारण उसका नाम हिरण्यगर्भ भी है। मैं चाहता हूँ कि मै सपूर्ण सृष्टि इस प्रकार पुनर्निर्मित करूँ कि समस्त अस्तित्व एक हिरण्यमय अड हो और उसमें मार्तंड की स्थिति गतिशील न होकर स्थिर रहे जिससे अधकार का अस्तित्व ही न हो।

वि०—किंतु प्रभु, आप प्रजापति होकर भी मार्तंड को नहीं रोक सकते। सृष्टि का नियम ही गतिशीलता है। आप में भी गतिशीलता है। आप स्वय गतिशील होकर सूर्य की गति कैसे रोक सकते हैं?

प्र०—मैं यदि एक गतिशील धूमकेतु होकर सूर्य से टकरा जाऊँ तो?

वि०—प्रभु, सूर्य नष्ट हो जायगा और अंधकार ही अंधकार चारों ओर व्याप्त हो जायगा। उससे तो आपका उद्देश्य अपूर्ण ही न रहेगा वरन् उसका बीज ही नष्ट हो जायगा।

प्र०—[हँस कर] तुम अन्ततः केवल एक गायक हो विद्याधर! तुम्हारा संगीत नक्षत्रों में भले ही भर गया हो किंतु नक्षत्रों की बात तुम्हारे संगीत में प्रवेश नहीं कर सकी। अरे, जो धूमकेतु वेग से गतिशील होकर सूर्य के मार्ग का अवरोध करेगा वह सूर्य से सहस्र गुना प्रकाशमान होगा और यदि सूर्य गति में रुक न सका तो वह स्वयं शून्य में सहस्रों सूर्य बन कर कण-कण को प्रकाशित करेगा। और तब वह धूमकेतु अपने ही केंद्र पर घूमता हुआ स्थिर होगा।

वि०—किंतु प्रभु, स्थिरता में अंत है।

प्र०—मुझे चिंता नहीं है विद्याधर, यदि मैं स्थिर रह कर नष्ट हो जाऊँ तो मुझे भय नहीं है। पिता की कलंक-कालिमा तो दूर कर सकूँगा।

वि०—किंतु प्रभु, अपने पिता विश्वगुरु की कलक कालिमा रहने दीजिए न ! वह आगामी सृष्टि के लिए व्यापक प्रमाण बन-कर संसार के दुराचरण को रोकेगी।

प्र०—[सोच कर] तुम भी ठीक कहते हो विद्याधर, किंतु इस दुराचरण को रोकने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होगी। मुझे बुद्धि का केंद्र भी उत्पन्न करना होगा। [फिर कुछ सोचते हैं और वातायन की ओर बढते हैं।]

वि०—आप क्या सोच रहे हैं ?

प्र०—रजःप्रधान प्रकृति को गतिशील कर उससे महत्तत्व उत्पन्न किया गया और उस महत्तत्व से अहकार। वही अहंकार तत्वों में व्याप्त होकर एक तेजोमय ब्रह्माड-कोष की रचना में समर्थ हो सका। ब्रह्माड-कोष मे चैतन्य की नाभि से कमल और उससे ब्रह्मा। और देवी देवताओं की सृष्टि......

वि०—यह तो सत्य है प्रभु, किंतु इससे क्या निष्कर्ष निकालेंगे ?

प्र०—विद्याधर, मैं एक नवीन चक्र की सृष्टि करना चाहता हूँ।

वि०—वह क्या ?

प्र०—पुरुष और स्त्री का निर्माण।

वि०—[आश्चर्य से] ओहो, आप स्वर्ग की सृष्टि को भूमंडल में भी ले जाना चाहते हैं ? यह देवी देवताओं की सृष्टि आप भूमंडल

में स्त्री पुरुष के रूप मे करेंगे ?

प्र०—[दृढ़ता से] हॉ, करूँगा। अपने पिता के इस पाप-मोक्ष के लिए सब कुछ करूँगा।

वि०—[कौतूहल से] पाप-मोक्ष कैसे होगा प्रभु ?

प्र०—अंधकार का नाश करने के लिए बुद्धि का केंद्र चाहिए न ? मैं बुद्धि का अक्षय केंद्र पुरुष और स्त्री में स्थापित करूँगा। पाप की जड पुण्य से काटूँगा। विष का विनाश अमृत से करूँगा। दुराचार को सदाचार से नष्ट करूँगा।

वि०—किंतु स्वर्ग की सृष्टि भूमंडल मे ले जाना अधर्म न होगा ?

प्र०—विद्याधर, यदि यह अधर्म होगा तो मैं इसके लिए धर्म के नये सिद्धात बनाऊँगा। धर्म की परिभाषा तक मे परिवर्तन करूँगा।

वि०—प्रभु, कोई अनर्थ न होगा ?

प्र०—मैं इसके लिए विश्वगुरु की सहायता माँगूगा। उन्होंने पापमय शरीर त्याग कर पुण्य देह धारण की है। मै उनसे उस पुण्य देह के त्याग करने की प्रार्थना करूँगा।

वि०—उससे क्या होगा ?

प्र०—उस देह के एक भाग से होगा पुरुष और दूसरे भाग से होगी स्त्री। मै जीव को पुरुष और स्त्री शरीर धारण करने की आज्ञा दूँगा।

वि०—क्या विश्वगुरु इसके लिए तैयार होंगे ?

प्र०—यदि वे कलंक से बचने के लिए एक शरीर छोड सकते हैं तो क्या अपने पुत्र की इस सदिच्छा के लिए दूसरा शरीर नहीं छोड़ सकते ? वे फिर नया शरीर धारण करेंगे। तुम स्वय कहते हो कि काल और अवस्था दोनों गतिशील हैं।

वि०—सत्य है, यही कीजिए, प्रभु !

प्र०—मैं अभी विश्वगुरु से मिलने जा रहा हूँ। उनके पाप को अपनी सदिच्छा के पुण्य से दूर करूँगा। उनका जो दुराचार अधकार बन कर फैला हुआ है उसे बुद्धि की किरण से नष्ट करूँगा। पुरुष और स्त्री की सृष्टि। मन्वतर समाप्त हो रहा है। जाते जाते पिता के ऋण से उऋण होना चाहता हूँ विद्याधर ! इससे पहले कि मैं प्रजापति का आसन छोड़ूँ, विश्वगुरु को दिखला दूँ कि मैं कितने कौशल से उनके पापाचार को पुरुष स्त्री के बुद्धि केंद्र से विनष्ट कर सकता हूँ।

वि०—ठीक है, प्रभु !

प्र०—पुरुष और स्त्री। दोनों माया से निर्मित होंगे किंतु उनमें जो मर्यादा की रेखा होगी उनसे वे व्यवस्थित होंगे। आग और सर्पी एक साथ प्रवाहित होंगे किंतु उनमें एक विभाजक रेखा होगी। इंद्रधनुष के रंग साथ रहते हुए भी अलग रहते हैं। प्रत्येक रग की एक-एक विभाजक रेखा है। इसी प्रकार पुरुष और स्त्री के संबंधो की एक-एक विभाजक रेखा होगी।

मैं उस बुद्धि की विभाजक रेखा से एक रग को दूसरे रग से न मिलने दूँगा। पिता पुरुष, कन्या स्त्री को देख कर भी न देखे। छू कर भी न छुए। प्रेम करता हुआ भी प्रेम न करे।

वि०—प्रभु, आप बहुत बड़ा कार्य करेंगे।

प्र०—माया, मोह और भ्रम से उत्पन्न मेरे ये खिलौने देवी-देवताओं की अपेक्षा अच्छा व्यवहार करें विद्याधर, मैं यह चाहता हूँ। जो कार्य देवताओं से नहीं हो सका, वह पुरुष और स्त्री के रूप कर सकें। मेरे ये क्षणिक रग शाश्वत रंगो से अच्छे हो सकें।

वि०—कल्पना अच्छी है, प्रभु !

प्र०—उस कल्पना को सत्य से आलोकित करना चाहता हूँ। अच्छा, मैं अब विश्वगुरु के समीप जाऊँगा। तुम तब तक यहीं रहो। मेनका इस समय अपनी पूजा समाप्त कर मुझ से आशीर्वाद लेने आई होगी। वह बाहर ही होगी। मेरे आने तक तुम उसे नृत्य करने की आज्ञा दो जिससे यह समस्त वातावरण पुरुष और स्त्री के निर्माण करने की राग-रजित भावनाओं से परिपूर्ण हो जावे।

वि०—जो आज्ञा।

प्र०—अच्छा, मैं जाता हूँ। इस समय मैं मेनका से नहीं मिलूँगा। विलम्ब होगा। मैं इस दक्षिण द्वार से जाऊँगा। शुभमस्तु।

वि०—प्रभु, आपका मार्ग प्रशस्त हो ! आपका निर्माण-कार्य मगलमय हो ! प्रणाम ।

[प्रजापति प्रणाम स्वीकार कर शीघ्रता से दक्षिण द्वार से जाते हैं ।]

वि०—[गहरी साँस लेकर] प्रजापति के मन्वतर के समाप्त होने के पूर्व यह महाविधान क्या रूप ग्रहण करेगा, यह विश्वात्मा के अतिरिक्त कौन कह सकेगा ! शुभ हो, मगलमय हो ! [पुकार कर] मेनका !

[मेनका का प्रवेश । अत्यंत रूपवती नवयुवती । मुस्कान से ही जिसके शरीर की सृष्टि हुई है । चितवन से जिसकी गति बनी है और चुंबन से ही जिसके अधरों का निर्माण हुआ है । इंद्रधनुषी वस्त्र पहने आती है । विशाल नेत्र जैसे प्रेम ने दो कमलों में निवास कर लिया है । माथे में कुंकुम, कानों में कुंडल, कपोलों पर श्याम अलक । केश-पाश में रत्न-रेखा । कंठ में कोकनद का हार । वह गिरते हुए उत्तरीय को बाएँ हाथ से रोक रही है । कटि में किंकणी, हाथों में वलय और पैरों मे नूपुर । शरीर में सद्यः प्रस्फुटित कमलो की सुगंधि । उस पर अंगराग जो आलिंगन का मौन निमंत्रण है । शरीर में चंचलता और उन्माद । उसके हाथों में पूजा-पात्र है जिसमें पुष्प-राशि और मलय सुसज्जित है । कपूर जल रहा है और अगरु का धूम है मानों शृंगार के हाथ में भक्ति है । वह मंद गति से प्रवेश करती है जैसे निर्मल जल-राशि में चंद्रकला का उदय हो रहा है ।]

वि०—मेनका, प्रजापति विश्वगुरु से मिलने गए हैं ।......

मे०—[अत्यंत मधुर शब्दों में] तब तुम अकेले हो विद्याधर ?

वि०—हाँ, मेनका, मैं अकेला हूँ भाग्य की तरह । किंतु प्रभु की शक्ति के साथ ।

मे०—[विद्याधर की बातों को अनसुनी कर] सुनते हो, लतिकाओ ने क्या कहा है ? लतिकाओ ने कहा है—'आज हम नहीं खिलेंगी ।' क्यों ? क्यो नहीं खिलेगी ? [भौंहें सिकोड़ कर] नहीं खिलेंगी, क्योकि समीर कही भटक गया है । दूर देश चला गया है ।

वि०—देवी, दूर देश नहीं गया होगा । यहीं कहीं पास होगा ।

मे०—[हरिणी की चकित दृष्टि से] कहाँ ? [चारों ओर देखती है ।]

वि०—देवी, प्रतिदिन तो वह लतिकाओं से मिलता है । आज वह तुम्हारी मदिर साँस मे भर कर तुम्हारे हृदय के स्पदन का सुख ले रहा होगा । [सँभल कर] नहीं, वह प्रभु के कक्ष में.........

मे०—[हृदय स्पर्श करते हुए] स्पदन का सुख । [किंचित् मुस्कुरा कर] स्पदन का सुख ! विद्याधर, स्पदन का सुख ले रहा है ! और विद्याधर, वह तुम्हारी तरह निष्ठुर नही है ।

वि०—देवी, मैं अब प्रजापति का सहायक हो गया हूँ ।

अब मैं प्रेमी विद्याधर नहीं । अब तपस्वी विद्याधर हूँ ।

मे०—[हँस कर] ओहो, तपस्वी महाराज ! नेत्रों में तेज—कामदेव के बाणों की नोंक नहीं—शरीर में भस्म—अंगराग नहीं, वाणी में मंत्र—प्रणय-निवेदन नहीं ! तपस्वी महाराज को प्रणाम ।

वि०—देवी, अब मैं प्रभु प्रजापति के समीप हूँ, मेनका के समीप नहीं । अब मेरी शक्ति विकास में लगेगी, विलास में नहीं ।

मे०—विद्याधर, विलास में ही सृष्टि का विकास होता है ।

वि०—देवी, यह प्रभु प्रजापति का कक्ष है, इंद्र का नंदन निकुंज नहीं । यहाँ की पवित्रता में केवल नूपुर की झनकार हो सकती है, उसके साथ मन की झनकार नहीं । यहाँ बादल गरज सकते हैं किंतु पानी नहीं बरस सकता । फूल खिल सकते हैं पर वे कली की ओर नहीं देख सकते । यहाँ मेनका केवल नर्तकी है, विलासिनी नहीं ।

मे०—न मैं नर्तकी हूँ और न विलासिनी । मैं स्वयं प्रभु प्रजापति का आशीर्वाद लेने के लिए आई थी ।

वि०—किंतु मेनका, इस समय वे यहाँ नहीं हैं । यह पूजा का पात्र रख दो और वातावरण को इस प्रकार राग-रंजित करो कि ..

मे०—किस तरह ? [पूजा का पात्र पीठिका पर रख देती है ।]

वि०—[सँभल कर] मै प्रभु प्रजापति के निर्माण-कार्य का भेद हर किसी से नहीं कह सकता। जो उनकी आज्ञा है, उसी का पालन होना चाहिए।

मे०—विद्याधर, तुम्हारे हृदय से तो समाधि अच्छी है।

वि०—मेनका, मैं धर्म के आचरण की बात के अतिरिक्त कुछ नहीं सोच सकता।

मे०—विद्याधर, तुम वेद पढ़ते हो, लेकिन क्या यह बतला सकते हो कि कोकिल वसत मे क्यों कूजती है? सुगधि किसे रिझाने के लिए फूल के द्वार खोलती है? लहरें किसके हृदय-तट को छूना चाहती हैं?

वि०—विश्वात्मा के।

मे०—[प्रजापति के हाथ से गिरा हुआ नील कमल उठा कर] यह नील कमल जो अपने बिखरे हुए शरीर को इस पतले मृणाल के छोर पर समेट कर बैठा है किसकी प्रतीक्षा मे सुगधि के प्राण लिए है?

वि०—प्रभु प्रजापति की।

मे०—और [मुस्कुरा कर] तुम्हारे विश्वात्मा और प्रभु प्रजापति के हृदय के भीतर कौन है?

वि०—धर्म इस प्रश्न के पूछने की आज्ञा नहीं देता।

मे०—विद्याधर, मै बतलाऊँ कौन है?

वि०—मैं सुनना नहीं चाहता।

मे०—विद्याधर, विश्वात्मा और प्रजापति के हृदय के भीतर तुम हो, पुरुष हो। सुनते हो? सुन सकते हो?

वि०—[आश्चर्य से] मै हूँ?

मे०—हाँ, विद्याधर, तुम। अनेक रूपों में—वसंत बन कर—देवता बन कर—हृदय बन कर—तुम हो। पुरुष, विद्याधर!

वि०—[सोचते हुए] तुम ठीक कहती हो, देवी! ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ब्रह्म की भावना मे पुरुषत्व है। विश्वगुरु ने स्वयं मुझे सुनाया था--किंतु मेनका......

मे०—[तिरछी दृष्टि से] अब मेरी ओर देख सकते हो?

वि०—देवी, क्षमा करो। मैं तुम से प्रेम करते हुए भी यहाँ तुम से प्रेम की बातें करने में विवश हूँ। मैं प्रजापति की सेवा में हूँ।

मे०—मैं भी अपने देवता कामदेव की पूजा कर अभी ही आ रही हूँ। मैं भी साधना-मदिर से लौट रही हूँ।

वि०—कामदेव भी पूजा का देवता है, मेनका?

मे०—सावधान, विद्याधर! कामदेव ब्रह्मा के हृदय से उत्पन्न हुआ है। वह तो उसी समय से देवता मान लिया गया जब से विश्वगुरु ने उसी देवता के सकेत से सरस्वती देवी......

वि०—[रोक कर] चुप मेनका! एक शब्द भी नहीं। यह बात कभी मुँह पर न लाना।

मे०—विद्याधर, मुझे इस चर्चा का अवकाश भी नहीं है।

अमर हों विश्वगुरु ब्रह्मा के विचार। मै यदि प्रेम-वार्ताएँ सुनाने लगूँ तो विद्याधर, तुम्हारे साधन-कक्ष में कलियाँ भी देवियाँ बनकर नृत्य करने लगेंगी।

वि०—ज्ञात, मेनका। यह रहस्य केवल मेरे प्रभु प्रजापति को ज्ञात है जो उन्होंने मुझे आज बतलाया। तुम इसे कैसे जानती हो, देवी?

मे०—यदि तुम्हारे प्रभु प्रजापति मुझे न बतलाएँ तो क्या मुझे कुछ मालूम ही न होगा? अन्य प्रजापतियों ने मुझ पर अनुग्रह किया था।

वि०—ओह, सर्व विजयिनी मेनका, मैं तुम्हारा अनुचर हूँ।

मे०—स्वयं अनगरिपु भगवान शकर मेरी सखी के अनुचर हैं, तो तुम्हारे अनुचर होने मे मुझे क्या संतोष!

वि०—भगवान शंकर भी अनुचर हैं?

मे०—हाँ, कैलाश पर्वत पर विहार करनेवाली मेरी सखी को देखकर भगवान शकर भी मुग्ध हो गए! किंतु पार्वती के भय से वे उसे स्पष्ट रूप से देख नहीं सकते थे। जब मेरी सखी भगवान की प्रदक्षिणा कर रही थी तो भगवान शकर ने उसे प्रत्येक क्षण देखने के लिए चारों ओर अपने चार मुख और बना लिए।

वि०—अच्छा, इसीलिए भगवान शकर के पाँच मुख हैं।

मे०—हाँ, किंतु नारद को तो तुम जानते हो। विग्रह के सूत्रधार। उन्होंने पार्वती से यह भेद कह दिया तो पार्वती ने उनके चारों मुख की आँखें बंद कर दीं!

वि०—[हँसकर] ओह, पार्वती ने यह किया !

मे०—तुम संभवतः स्त्री की ईर्ष्या नहीं जानते। केवल अप्सराओं से प्रेम कर सके हो न ? इसीलिए ! जब पार्वती ने किसी भाँति भी भगवान के नेत्र नहीं खुलने दिए तो भगवान ने अपने मस्तक पर तीसरे नेत्र की सृष्टि की।

वि०—ओह, तीसरे नेत्र की !

मे०—प्रिय विद्याधर, यह धर्म की जीत है कि प्रेम की ?

वि०—मेरे लिए प्रेम ही धर्म है, मेनका। जो भावना-पक्ष में प्रेम है वही साधना-पक्ष में धर्म। साधना-पक्ष में मैं प्रजापति का सेवक हूँ, भावना-पक्ष में तुम्हारा अनुचर।

मे०—यदि मेरे अनुचर होने में तुम्हें साधना-पक्ष छोड़ना पड़े तो ?

वि०—देवी, तुम मेरी परीक्षा ले रही हो ?

मे०—अच्छा जाने दो। यही बहुत है कि भावना पक्ष में विद्याधर मेनका के अनुचर हैं। किसलिए मुझे बुलाया था ?

वि०—प्रजापति, अभी विश्वगुरु की सेवा में गए हैं। उनसे उसी समस्या का हल पूछने के लिए। उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुमसे नृत्य करने के लिए निवेदन करूँ जिससे यह समस्त वातावरण अनुराग के रंग से रंजित हो उठे।

मे०—एक बात है विद्याधर, इस नृत्य के बाद नदन-कुंज में मेरे हाथों से एक मधु-पात्र !

वि०—तुम्हारी इच्छा, देवी !

[मेनका वातायन की ओर जाती है ।]

मे०—मेरी किन्नरियाँ अलका से नवीन शरीर धारण कर आज ही आई हैं। उन्हे भी बुला लूँ ? [संकेत कर दो किन्नरियों को बुलाती है । फिर आकर नृत्य की मुद्रा धारण करती है । इतने में ही किन्नरियाँ नूपुर-शब्द के साथ नृत्य में सम्मिलित हो जाती हैं। कुछ देर तक लास्य नृत्य होता है। विद्याधर तन्मय होकर देखता है ।]

[गंभीर मुद्रा में प्रजापति का प्रवेश । वे नीची दृष्टि किए हुए आते हैं । मेनका और किन्नरियो का नृत्य रुक जाता है। वे प्रजापति को हाथ जोड़ कर प्रणाम करती हैं ।]

प्र०—[रूखे स्वर से] तुम लोग जाओ। मैं अशात हूँ।

[मेनका और किन्नरियों का प्रस्थान ।]

वि०—क्या हुआ प्रभु ?

प्र०—कुछ नहीं हो सका, विद्याधर, कुछ नहीं हो सका !

वि०—आपने विश्वगुरु के दर्शन किए ?

प्र०—किए, किंतु कुछ फल नहीं हुआ !

वि०—[आश्चर्य से] कुछ फल नहीं हुआ ?

प्र०—हाँ, विश्वगुरु मेरे मत से सहमत नहीं हैं।

वि०—क्यों ?

प्र०—वे कहते हैं कि एक कलक को छिपाने के लिए जो

कार्य भी किया जायगा वह भी कलक होगा। मेरे कलक को छिपाने की आवश्यकता नहीं। ससार मे मेरी कलंक-कथा अध-कार बन कर व्याप्त रहने दो।

वि०—वे महात्मा हैं प्रभु, वे विश्वगुरु है।

प्र०—किंतु मेरे हृदय को सतोष कैसे हो? विद्याधर, उन्हे मेरी इच्छा-पूर्ति में सहायक होना ही होगा। यदि वे मेरा साथ न देंगे तो मै अपनी शक्ति का प्रयोग करूँगा।

वि०—जब उन्होंने एक बार अपनी सहमति नहीं दिख-लाई तो फिर वे आपके सहायक कैसे हो सकते हैं?

प्र०—तो विद्याघर सुनो, मैं अपने योगबल से उनके शरीर का नाश कर उसके दो भागों से स्त्री पुरुष बनाऊँगा। मैं अपने कर्तव्य-पथ से नहीं हट सकता। अधकार का नाश तो करूँगा ही।

वि०—किंतु यदि विश्वगुरु नहीं चाहते तो अधकार का नाश नहीं होगा।

प्र०—न हो, मैं यथाशक्ति उसके दूर करने का उपाय करूँगा।...[रुक कर] ओह, मैं कुछ और बात देख रहा हूँ! मुझे इस वातावरण मे कुछ वासना की दुर्गंधि सी मिल रही है।

वि०—प्रभु! कैसी वासना!

प्र०—तुमने मेनका से प्रेम की बातें की हैं।

वि०—[हाथ जोड़ कर] प्रभु, क्षमा हो।

प्र०—मेरे साधना-गृह मे तुम इंद्रियों की आग नहीं जला सकते। आत्मा के प्रकाश को तुम इंद्रियों के धूम्र से धुँधला करना चाहते हो? विद्याधर, तुमने मेनका से प्रेम की बातें की हैं।

वि०—मैं बाध्य किया गया, प्रभु।

प्र०—पुरुष होकर यह कहते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? पुरुष बाध्य नहीं किया जा सकता, विद्याधर! आकाश को कोई खींच कर बढ़ा नहीं सकता। कल्पतरु को कोई दबा कर छोटा नहीं कर सकता। पुरुष को कोई खींच नहीं सकता, उसे कोई छोटा नहीं कर सकता। हॉ, इंद्रियों के घडे में आकाश को घटाकाश बनाया जा सकता है, कल्पतरु के फूल को तोड कर वेणी का शृंगार किया जा सकता है!

वि०—[फिर हाथ जोड़ कर] क्षमा हो, प्रभु!

प्र०—मुझ से आकाश का शब्द कह रहा है कि तुम आज सध्या समय नदन कुज में मेनका के हाथ से मधु-पात्र पी रहे हो। जाओ, पुरुष होकर नारी की कोमलता मधु-पात्र में भर कर पिओ। और [सोचते हुए] मेनका, तू स्त्री होकर भी पुरुष है! अच्छा, तुम दोनों के भविष्य का निर्माण भी मैं अपने समाप्त होते हुए क्षणों में करूँगा।

वि०—प्रभु, मेरा अपराध!......

प्र०—मेरे साधना-गृह को तुम इस प्रकार अपवित्र नहीं कर सकते। आत्मा के पुण्य-गृह को तुम पाप की कालिमा से मलीन

करना चाहते हो ? विद्याधर, मेनका से तुम्हारा प्रेम है तो प्रेम करने के लिए इद्र के नंदन की भिक्षा माँगो। कलियों से कहो कि वे तुम्हारी इच्छा की आग में भी खिली रहें। पवन से कहो कि वह तुम्हारे सयोग में साँस बन कर सजीव हो जाय; किंतु तुम मेरे सहायक होकर मेरी पूजा में रौरव की दुर्गंधि नहीं भर सकते ! मै जानता था कि गायक विद्याधर अंततः गायक ही है। जल हिम बन कर भी जल का गुण रक्खेगा। कमल सूख कर भी कमल ही रहेगा। तुम तपस्वी नहीं हो सके, विद्याधर ! गायक भी कहीं विचारक हुआ है !

वि०—प्रभु, गायिका सरस्वती देवी मे विचार......

प्र०—चुप रहो, विद्याधर ! उफ्, सरस्वती ! फिर वही आग ! फिर वही भयकर प्रतारणा ! विद्याधर, जाओ। मेरे वातावरण को और कलुषित मत करो। अभी पिता के कलंक-कृत्य से पीड़ित हूँ। कहीं धीरे धीरे सेवक के कलंक-कृत्य से पीड़ित न हो जाऊँ। जाओ, तुम आज से मेरी सेवा में नहीं रहोगे। घुँघराली अलकों की भाँति विधर्मी, विद्याधर !

[विद्याधर का नत मस्तक होकर प्रस्थान।]

वि०—[अशांत चित्त से] सरस्वती, गायिका होते हुए भी विचार कर सकती है ! उसने यह विचार नहीं किया कि पिता के चचल हृदय को ठोकर मार कर स्थिर कर दे ! [ज़ोर से] सृष्टि, स्थिर हो। मैं तेरी मर्यादा सुरक्षित रक्खूँगा। अपने पद

के इस, अतिम दिवस में भी तेरे लिए प्रबध करके विदा लूँगा ।

[नेपथ्य में विद्याधर की कंठ-ध्वनि–'मेनका, मुझे सहारा दो...सहारा दो !']

वि०—[दुहराते हुए] सहारा दो ! मेनका और विद्याधर ! दोनों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण जैसे जन्म और मृत्यु मे परस्पर आकर्षण हो । जन्म और मृत्यु...मृत्यु और जन्म ! इनमें कौन जन्म है और कौन मृत्यु !

[नेपथ्य में—प्रजापति की विजय हो ।]

प्र०—[घूम कर] कौन ? माया ?

[माया का प्रवेश । सुंदर युवती । श्वेत सारी जिनपर लहरों के चित्र, जो अस्थिरता के द्योतक हैं। वासंती शृंगार जिससे नश्वरता का बोध होता है । नेत्र विशाल जिनमें अंजन । कंठ में त्रिगुणमयी तीन पुष्प मालाएँ। मुक्त केश जिनसे सुगंधि शतमुखी होकर दिशाओं में वरदान की भाँति वितरित हो रही है । माथे में अरुण बिंदी जिसकी लालिमा में अपनी किरणों को डुबाकर बाल सूर्य प्रभात का चित्र खींचता है । हाथों में अंगराग और पुष्प-वलय । किंकणी और नूपुर । वह आकर प्रजापति को प्रणाम करती है ।]

मा०—प्रजापति के आज्ञानुसार पृथ्वी और चद्र का निर्माण हो गया ।

प्र०—ठीक ! पृथ्वी में कौन सी विशेषता रक्खी है ?

मा०—वहाँ उत्साह से बने हुए पहाड़ हैं, प्रेम की गहरी नदियाँ हैं, रूप के चचल झरने हैं। लहर वहाँ अभिलाषा की तरह फैलती है। फूल कली के उभार में मुस्कुराते हैं। इंद्रधनुष आकाश में प्रेम की क्यारियाँ सप्त रंगों से सजाते हैं।

प्र०—और चंद्र ?

मा०—कल्पवृक्ष के कुसुम के आकार का मैंने एक चित्र बनाया था। उसकी पंखुड़ियाँ मिटा कर मैंने उसी को गतिशीलता दे दी है। वह मिलन और वियोग की कसौटी है जिस पर हँसी और आँसू की रेखाएँ खींची जा सकेंगी। वह आशा की तरह घटता है और निराशा की तरह बढ़ता है। ससार की परिवर्तन-शीलता का आकाश मे जैसे प्रतिबिंब पड रहा हो, ऐसा वह दिखलाई देगा किंतु इस तरह उसे कोई समझेगा नहीं।

प्र०—माया, मेरी प्रेरणाओं को तुम इतना अच्छा आकार दे सकती हो! तुम्हे मेरा वरदान है कि तुम्हारे चित्र मिथ्या होते हुए भी सत्य के समान प्रतीत होंगे। अच्छा, तुम जाओ। अब मैं योग-साधन करूँगा। हाँ, तुम्हे एक बात मालूम है ?

मा०—क्या प्रजापति ?

प्र०—मेनका और विद्याधर ने मेरे साधन-कक्ष को प्रणय-गृह बना लिया था।

मा०—[विकृत स्वर से] यह धृष्टता, प्रजापति !

प्र०—हाँ, मैं जानता था कि इस प्रकार की घटना हो

सकती है। मलय और पवन को एक साथ रखने से सुगधि का फैलना स्वाभाविक होगा किंतु मैं यह जानना चाहता था कि गायक विद्याधर, तपस्वी हो सका है कि नहीं। यह उसकी छोटी सी परीक्षा थी और वह उसमें सफल नहीं हो सका! माया, प्रेम की भावना तो ऐसी होनी चाहिए कि उससे जीवन का अंत जीवन के आदि से अच्छा बन जाय।

मा०—किस प्रकार प्रभु!

प्र०—अभी तुम्हें ज्ञात हो जायगा। मेनका के प्रणय की एक मनोरजक विकृति होगी!

मा०—प्रभु, प्रणय तो मेरी सबसे बड़ी शक्ति है।

प्र०—जिसमें ऑसू और हँसी साथ मिलकर जीवन का चित्र खींचते हैं। जिसमें विवशता का नाम आत्म-समर्पण हो जाता है! इच्छा ऐसे व्यूह में घूमकर बढ़ती है कि उसका नाम प्रेम हो जाता है। जहाँ दो निर्विकार प्राण शरीरों के निकट स्पर्श की मादकता मे फूल की सुगंधि पर बैठकर कोकिल के कठ में गा उठते हैं और तब शरीर के प्रत्येक रोम की नोक पर सुख या दुख ध्रुवलोक की भॉति स्थिर हो जाता है। और तब मुस्कान की रेखा में वसंत मचलने लगता है और कपोलों के हल्के उभार की सीमा पर ऑसू की रुकी हुई एक विकल बूँद में विषाद एक प्रलयकरी वर्षा की सृष्टि कर देता है। यही है न तुम्हारा प्रणय?

मा०—किंतु प्रभु, इस क्रीड़ा मे अमर सौंदर्य है।

प्र०—वह सौंदर्य मेरे कक्ष ने देखा है। आज ही कुछ क्षण पहले। अव उसकी चर्चा ससार में होगी। मेनका और विद्याधर की प्रेम-चर्चा !

मा०—प्रजापति, उनकी प्रेम-चर्चा तो इद्रलोक तक फैली हुई है। पुरदर ने दोनों की प्रणय-क्रीड़ा के लिए नंदन वन के कुजो मे पुष्पों को चिरकाल खिले रहने की शिक्षा दी है। घृताची और तिलोत्तमा ने अपने दृष्टि-पथ पर अनंग को चलने की आज्ञा दी है।

प्र०—क्यों ?

मा०—उर्वशी को विद्याधर की दृष्टि से बचाने के लिए पुरदर और स्वर्ग की नव अप्सराओं ने मेनका को उससे प्रणय-निवेदन की आज्ञा दी है।

प्र०—पुरुरवा की उर्वशी ?

मा०—प्रभु, आपका व्यग मै समझती हूँ। पुरंदर सौंदर्य के सामने ग्राह्य और अग्राह्य मे अंतर नहीं समझते। गंधर्वों की सहायता से उन्होंने उर्वशी को फिर अपनी सभा में बुलवा लिया है। अब पुरुरवा का जीवन प्रलाप की कहानी बन गया है !

प्र०—और अश्विनी कुमारों ने बाधा नहीं डाली ?

मा०—प्रभु, अश्विनी कुमार दो हैं। उर्वशी ने अश्विनी कुमारों से कहा कि प्रेम केवल दो व्यक्तियों में होता है। सरिता के केवल दो किनारे होते हैं, तीन नहीं। आप दोनों परस्पर प्रेम

कीजिए और मुझे छोड़ दीजिए। या फिर आप में से केवल एक मुझे प्रेम करे, दूसरा छोड़ दे। प्रेम केवल दो में होता है, तीन में नहीं। अश्विनी कुमार दो हैं। वे एक नहीं हो सके।

प्र०—[हँस कर] अश्विनी कुमारों को चाहिए कि वे ऐरावत के पैरों से दब कर एक हो जाते! बेचारे दो! तब तो माया उनकी बात का विश्वास क्या? वे दो मुँह से बोलते होंगे।

मा०—[हँस कर] प्रभु, उनसे कोई एकात में बात ही नहीं कर सकता। और उनसे तो प्रेम हो ही नहीं सकता। सूर्य और चद्र एक साथ हों तो न दिन है न रात।

प्र०—[स्मरण कर] ओह रात। अधकार! माया तुम जाओ। मैं चिंतन करूँगा।

मा०—फिर प्रभु, विद्याधर और मेनका के संवध में आपने कोई निर्णय नहीं दिया!

प्र०—हॉ, उनके संबंध में मरा निर्णय है।

मा०—आज्ञा।

. प्र०—मेनका को पुरुष रूप में और विद्याधर को स्त्री रूप में संसार के क्रोड में भेजना होगा।

मा०—यह रूप-परिवर्तन क्यों?

प्र०—मेनका में विजय-गर्व है, यह पुरुष की विशेपता है, और विद्याधर में आत्म-समर्पण, यह स्त्री की विशेषता है। उनके

इन चित्रों से पृथ्वी के चित्रपट पर कुछ प्रयोग करूँगा। इसमें मेरे दंड की व्यवस्था भी होगी उनकी दुर्विनीतता के लिए।

मा०—जो आज्ञा। मैं जाऊँ ?

प्र०—हाँ, विश्वात्मा की प्रार्थना के लिए पुष्प-हार लाओ।

मा०—अभी लाई।

प्र०—[सोचते हुए] विश्वात्मा की इच्छा। स्त्री और पुरुष का निर्माण। पृथ्वी पर जीवन की सृष्टि। मेरी सदिच्छा की प्रेरणा से विश्वगुरु के शरीर का विभाजन। [माया नील कमल का हार एक स्वर्ण-थाल में प्रस्तुत करती है। प्रजापति कमल-हार स्वीकार करते हैं। माया प्रणाम करके जाती है। प्रजापति कुछ देर तक हार हाथों में फेरते हुए सोचते हैं। फिर दोनों हाथों में हार उठा कर नत मस्तक हो आँखें बंद कर खड़े रहते हैं।]

प्र०—[नेत्र बंद किए हुए] सत्, चित्, आनंद।

[कुछ क्षण शांति। फिर द्वार पर शब्द।]

प्र०—[आँखें खोल कर] कौन ? आओ !

[अश्विनी कुमारों का प्रवेश। दोनों का एक ही रूप। दोनों बटु वेष में हैं। पीत वस्त्र। मुक्त केश। माथे पर पीत चंदन। पैर में पादुकाएँ।]

दोनों—[क्रम से] एक—दो—एक—दो—

प्र०—उर्वशी का सिखलाया हुआ यह संख्या-पाठ ! विश्वात्मा का नाम लो। केवल एक।

प्रथम अश्विनी०—प्रभु ! उर्वशी का नाम। उर्वशी।

द्वितीय अश्विनी०—प्रभु ! उर्वशी का प्रेम। उर्वशी।

प्र०—[प्र० अ० से] तुम कहते हो नाम [द्वि० अ० से] तुम कहते हो प्रेम। एक बात कहो तो कुछ समझ में आए।

प्र० अ०—नाम।

द्वि० अ०—प्रेम।

प्र०—अच्छा प्रेम का नाम। हाँ, कैसी उर्वशी ?

प्र० अ०—प्रभु, पुरंदर स्वार्थी है। वह उर्वशी से प्रेम करने के लिए मुझे मार्ग से हटाना चाहता है।

द्वि० अ०—हटाना चाहता है, प्रभु।

प्र०—हाँ, अब एक बात कहते हो।

प्र० अ०—पुरंदर ने उर्वशी को न जाने क्या सिखला दिया ! वह कहती है, सरिता के किनारे दो होते है, तीन नहीं।

द्वि० अ०—मैंने कहा—चार किनारे कर लो। तालाब बन जाओ। हम अपने साथ प्रजापति को ले आएँगे। हम लोग तीन हो जायँगे, तुम चौथी हो जाना।

प्र०—मैं उर्वशी से प्रेम करूँ ?

द्वि० अ०—क्या हानि है !

प्र० अ०—कोई हानि नहीं।

प्र०—[अधिकार स्वरसे] अश्विनी कुमार, तुम लोग यदि मेरा नाम लोगे तो मैं योग-साधन से तुम्हे दंड दूँगा। साव-

धान । तेल और पानी नही मिल सकते । मेरा प्रेम तरल है किंतु वह ईश्वर के स्नेह मे है । तुम्हारा प्रेम तरल है किंतु वह दैनिक जीवन में है । स्नेह और जीवन को अलग रहने दो । मेरे लिए । केवल मेरे लिए ।

प्र० अ०—क्षमा कीजिए, प्रभु ! दोषी हूँ ।

द्वि० अ०—क्षमा कीजिए, प्रभु । मैं भी अदोषी नहीं हूँ ।

प्र०—एक ही बात किंतु भिन्न शब्द । तुम लोग स्वभाव से रूखे हो प्रेम नहीं कर सकते । प्रेम के लिए आवश्यकता है मुस्कान की । तुम मुस्करा नहीं सकते ।

प्र० अ०—प्रभु, मैंने उर्वशी को मोहित करने के लिए अश्व का मस्तक उतार कर फेक दिया । देवताओं का मुख धारण किया और मुस्कान उत्पन्न की, फिर भी उर्वशी...

द्वि० अ०—प्रभु, सुरो का मुख धारण किया, फिर भी उर्वशी !......

प्र०—घोड़े का मुख बदल जाय, किंतु स्वभाव तो नहीं बदल सकता ?

प्र० अ०—प्रभु, उर्वशी को आप घोडी बना दीजिए ।

द्वि० अ०—अश्विनी बना दीजिए, प्रभु !

प्र०—[हँस कर] फिर तुम्हारी माँ भी अश्विनी और स्त्री भी अश्विनी ! देवताओं को अधिक लाछित मत करो, अश्विनी कुमार !

प्र० अ०—प्रभु, प्रेम मे क्या स्त्री और क्या अश्विनी !

द्वि० अ०—प्रेम में क्या......

प्र०—तुम लोग वीणा के दो तारों की तरह हो, मिल कर भी अलग हो। देखो, तुम ऐरावत को जानते हो ?

प्र० अ०—हाँ प्रभु, पुरंदर का हाथी। समुद्र मंथन का चौथा रत्न।

द्वि० अ०—हाँ, प्रभु, पाँचवें रत्न कौस्तुभ पद्मराग मणि के पूर्व का चौथा रत्न।

प्र०—उस ऐरावत के पैरो से दब कर दोनों एक नहीं हो सकते ? अमर होने से तुम लोग मर नहीं सकते किंतु एक हो सकते हो।

प्र० अ०—प्रभु, यदि उसने हृदय पर पैर रख दिया तो प्रेम की भावना ही गई--उर्बशी तो दूर की बात है।

द्वि० अ०—प्रभु, फिर उर्वशी गई !

प्र० अ०—और पुरदर हमलोगों से जलता है। उसने यज्ञ के देवों मे हमें नहीं लिया। अकेला सोमरस पीता है और हमलोग मुँह देखते हैं।

द्वि० अ०—कभी इसका, कभी उसका।

प्र०—और उर्वशी का ?

प्र० अ०—प्रभु, उर्वशी मिल जाय तो मैं अपने रथ पर बिठला कर सूर्योदय से पहले ही उसके मुख से प्रकाश फैला

दूँगा। पक्षियों से खींचा जाने वाला हमारा रथ सदैव सूर्य के रथ से आगे रहता है।

द्वि० अ०—प्रभु, उर्वशी मिल जाय तो मैं अपने रथ पर बिठला कर चद्रोदय से पहले ही उसके मुख से प्रकाश फैला दूँगा। पक्षियों से खींचा जाने वाला हमारा रथ सदैव चद्र के रथ से आगे रहता है।

प्र०—तुम दोनों प्रकाश के पूर्व की धुँधली ज्योति हो, प्रकाश के बीज हो। मैं तुम्हारा हित कर सकता हूँ। किंतु तुम यदि एक हो सको तो अच्छा है।

प्र० अ०—प्रभु, च्यवन ऋषि को युवक बनाने में हम दोनों का हाथ है।

द्वि० अ०—प्रभु, सिद्ध निर्मित सरोवर में च्यवन को हम दोनो ने नहला कर युवक बनाया। सती सुकन्या का आशीर्वाद हम दोनों को प्राप्त है। हम एक कैसे हो सकते हैं प्रभु!

प्र०—तुम दोनों दो नेत्रों की तरह हो। एक ही दृश्य देखते हो किंतु रूप में अलग अलग। अच्छा है, तुम लोग अलग ही रहो।

प्र० अ०—मैं प्रकाश का रूप हूँ।

द्वि० अ०—मैं अधकार का रूप हूँ।

प्र०—ओह, अंधकार! तुम लोगों में से भी एक अधकार का समर्थक है। जाओ, तुम लोग! अधकार...अधकार...फिर याद दिला दी!

प्र० अ०—[जाते हुए करुण स्वर से] आह, उर्वशी...

द्वि० अ०—[जाते हुए करुण स्वर से] आह , उर्वशी...

प्र०—जाओ, वैद्यक से देवताओं को प्रसन्न करो पहले। फिर 'आह उर्वशी', 'आह उर्वशी', कहना।...ये भी अंधकार के अग्रदूत हैं। मैं पुरुष और स्त्री के निर्माण से इस अधकार को अवश्य दूर करने की चेष्टा करूँगा।

[दरवाज़े पर शब्द।]

प्र०—कौन...? आओ। [सोच कर] ओह, मेनका... की...जीवात्मा... !

[एक जीवात्मा का प्रवेश। श्वेत वस्त्र से सुसज्जित।]

जीवात्मा—[अंधे की तरह लड़खड़ाते हुए] सत्, चित्, आनद।

प्र०—आओ, आओ। तुम जागे ?

जी०—[आँखें खोल कर] कौन ?

प्र०—मैं, प्रजापति। सृष्टि का रचयिता। अपने मन्वतर के अत में मेरे द्वारा तुम्हारा निर्माण। तुम जीव हो। विश्वात्मा की इच्छा और मेरे सहयोग से उत्पन्न। विश्वगुरु के शरीर के भाग ! विश्वात्मा के रूप।

जी०—[धीरे धीरे दुहराता हुआ] विश्वात्मा...के... रूप...... !

प्र०—[दृढ़ता से] तुम विश्वात्मा के रूप, उसके अंश हो।

जी०—जैसे प्रकाश की किरणों को विभाजित कर दिया। सागर की लहरों को स्थिर कर तट पर रख दिया। वैसे ही अनुभव हुआ, जागृति की एक लहर आई और मुझमें समा कर लौट गई! यह जागृति, यह स्पदन! [हृदय छूता है।] देखो, प्रजापति!

प्र०—[जीवात्मा का हृदय स्पर्श करते हुए] हाँ, स्पंदन हो रहा है। विश्वात्मा की अनत शक्ति से तुम जागे हो।

[जीवात्मा चकित होकर शून्य में देखता है।]

प्र०—विस्मित होकर क्या देख रहे हो?

जी०—[विह्वल होकर] प्रकाश, आनद, उल्लास, सौंदर्य। सीमा नहीं है। प्रत्येक का एक एक आकाश है। उसमें वही, सब कुछ वही। और वह आकाश मुझसे निकलकर मुझी में समा रहा है!

प्र०—[मुस्करा कर] इतना अधिक!

जी०—बहुत अधिक, असह्य!

प्र०—तो भू-मडल में चले जाओ। संभव है, यह उल्लास, यह सौंदर्य कुछ कम हो जावे। भू-मडल में देखना—इतना प्रकाश, इतना आनद—इतना उल्लास है या नहीं।

जी०—[आश्चर्य से] भू-मंडल?

प्र०—हाँ, भू मडल।

जी०—कहाँ है?

प्र०—इधर आओ। [दक्षिण द्वार की ओर ले जाकर शून्य में संकेत करते हुए] देखो, इधर क्या है?

जी०—[आश्चर्य चकित होकर] अनेक प्रकाश-पिंड, बड़े और छोटे। कितनी गति से घूम रहे हैं! [प्रसन्नता से] अरे, यह कितने पास आ रहा है। ओहो, यह आया! [प्रजापति से] प्रजापति, बचो। अरे, यह घूम कर उधर चला गया! [प्रजापति की ओर देख कर आश्चर्य चकित] प्रजा...पति?

प्र०—ये अनेक सौर मंडल हैं। सहस्रों सूर्य और उनकी प्रदक्षिणा करनेवाले अनेक ग्रह और उपग्रह। देखो, वह सूर्य देखो! वह अतरिक्ष के मध्य भाग में स्थित है। भूलोक और द्युलोक के मध्य-स्थान का नाम अंतरिक्ष है। उसी मे सूर्य गतिशील होता है।

जी०—[जिज्ञासा से] सूर्य से क्या होता है?

प्र०—जीवन का प्रकाश, आनद, उल्लास। उत्तरायण, दक्षिणायन और विषुवत् गतियों में जैसे सूर्य का उत्थान, पतन और समत्व होता है।

जी०—[उँगली से संकेत कर] और वह स्तूप क्या है?

प्र०—वह मेरु पर्वत है। उसी के चारों ओर सूर्य प्रदक्षिणा करता है। उस मेरु के उत्तर में इद्र की नगरी देवधानी है, दक्षिण में यमराज की नगरी सयमिनी है, पश्चिम में वरुण की नगरी निम्लोचनी है और उत्तर मे कुबेर की नगरी विभावरी है।

जी०—इनमे से ही किसी स्थान पर मुझे भेज दीजिए।

प्र०—नहीं, तुम्हे भू-मंडल में जाना होगा, पृथ्वी पर ।

जी०—पृथ्वी कहाँ है ?

प्र०—[दिखलाते हुए] देखो, उस कोने मे जो सब से छोटा सूर्य है, उसके चारों ओर जो विंदु घूम रहे हैं, उन्हे देखते हो ?

जी०—[भौंहें सिकोड कर झुकते हुए] ओह, बहुत छोटे छोटे हैं !

प्र०—उन्हीं मे एक विंदु है जिसकी प्रदक्षिणा एक और छोटा विंदु कर रहा है उसे चंद्र कहते है। वही भू-मडल है। दिखा ?

जी०—[देखते हुए] हॉ, कुछ-कुछ दीख रहा है । बहुत छोटा है । वह तो मेरा अणु मात्र भी नहीं है । मैं उसमें समाऊँगा कैसे ?

प्र०—मै तुम्हे कल्पना का शरीर दूँगा । उसी में सचित होकर तुम जाओगे ।

जी०—मैं समझ ही नहीं सकता, प्रजापति । जहॉ इतने बड़े आकाश मुझमें मिल रहे हैं, वहॉ भू-मंडल में मैं अपने को किस प्रकार बद करूँगा ?

प्र०—एक चचल स्वप्न के पख पर उड कर तुम वहॉ पहुँच जाओगे और तब तुम्हें वही भू-मडल अपनी आशा से भी बडा ज्ञात होगा । और जिस शरीर में तुम जाओगे वह एक

नगर से किसी भाँति भी कम न होगा। उसमें एक राजा होगा पुरजय की तरह। उसकी एक सुदर स्त्री होगी। उस की रक्षा एक बड़ा भारी साँप करेगा। उस नगर के दस दरवाज़े होंगे!

जी०—तुम मुझे आश्चर्य में डाल रहे हो, प्रजापति!

प्र०—नहीं, वह भू-मंडल बहुत मनोरंजक स्थान है। आओ, बैठो, तुम्हे सुनाऊँ। [दोनों छोटी पीठिकाओं पर बैठते हैं।]

जी०—[बैठते हुए] बहुत मनोरंजक स्थान है वह?

प्र०—हाँ, वहाँ एक ठोस चमकदार मिट्टी होगी। उसका नाम होगा 'सोना'। वहाँ का जीव उस मिट्टी की परिधि में बिंदु बन कर बैठेगा और उसी में चक्कर लगायगा। वह उस मिट्टी का सिंहासन बना कर उस पर ईश्वर को बिठलाने के बदले स्वय बैठ जायगा। और अपने साथियों से कहेगा कि वे उस सिंहासन को उठा कर चलें। वह उस मिट्टी के रंग से पाप को भी पुण्य बना देगा। हाँ, पाप को भी पुण्य!

जी०—असंभव बातें मत कहो, प्रजापति!

प्र०—ये असंभव बातें नहीं हैं। जब तुम वहाँ जाओगे तो उसी 'सोने' से अपने साथियों में भेद उत्पन्न करोगे। कोई होगा राजा, कोई होगा किसान। कोई स्वामी होगा, कोई श्रमजीवी। यह सुनहली मिट्टी जिसके पास जितनी अधिक होगी वह उतना ही बड़ा—हाँ, उतना ही बडा। वह अपने को ब्रह्म से भी बड़ा

समझेगा । राजा कहेगा—अन्न उत्पन्न करो और मेरा कोष भरो, किसान अन्न उत्पन्न करेगा और राजा का कोष भरेगा । स्वामी कहेगा—काम करो और भूखे रहो । सेवक काम करेगा और भूखा रहेगा ।

जी०—[आश्चर्य से] बडी विचित्र बात होगी ! ऐसे 'सोने' को जरूर देखूँगा ।

प्र०—हाँ, जाओ । मैं तुम्हें वहाँ पुरुष बना कर भेजूँगा ।

जी०—पुरुष क्या ?

प्र०—शक्ति के सञ्चित कोष का नाम 'पुरुष' है । किंतु वहाँ प्रायः ऐसे अवसर आवेंगे जहाँ पुरुष शक्ति के प्रयोग से अपना ही नाश करेगा । वह ऐसे यंत्र निकालेगा जो दैत्य बन कर उसे खा जायँगे । वह अपने विनाश के बीज बोकर कहेगा कि मैं अमर हूँ । किंतु तुम । तुम्हें मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम वहाँ जाकर जहाँ तक हो सके अंधकार से युद्ध करोगे । उसका विनाश करोगे। यही मेरी आज्ञा है । मैं समस्त पापाचार का अंत देखना चाहता हूँ।

जी०—पापाचार मैं नहीं जानता, प्रजापति !

प्र०—पापाचार ? जब तुम अपने उस कल्पना के शरीर से अपनी आत्मा पर बैठ जाओगे तो पापाचार होगा । अपने सेवकों को जब तुम स्वामी बना कर स्वयं उनके सेवक होगे तो पापाचार होगा । इच्छा के ऐरावत पर बैठ कर जब तुम आत्मा को पदचर बना लोगे तो पापाचार होगा । जब तुम अपनी पवित्र भावनाओं

के पिता होते हुए स्वयं उत्पन्न की हुई निधियों से प्रेम करोगे तो पापाचार होगा।

जी०—यह तो बड़ी भयानक बात होगी प्रजापति !

प्र०—तुम्हें इस भयानकता का विनाश करना होगा। मैं यह उत्तरदायित्व तुम्हें देता हूँ।

जी०—स्वीकार करता हूँ। अब मैं जाऊँ ?

प्र०—तुम्हें तीस वर्ष की आयु देता हूँ। तुम मेरे पास केवल तीस क्षणों में आ जाओगे क्योंकि मेरा एक क्षण तुम्हारे एक वर्ष के समान होगा। तुम मेरे और अपने बीच में साँस की दीवाल उठाओगे।

जी०—जो आज्ञा। मैं भू-मंडल का रास्ता तो नहीं भूलूँगा ?

प्र०—तुम वायु का रूप रख कर बह जाओ। तुम्हारे लिए पुरुष का शरीर प्रस्तुत हो चुका है माया के द्वारा। तुम साँस बन कर उसी शरीर में प्रवेश कर जाओगे। मेरी शक्ति तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेगी।

जी०—बहुत अच्छा। सत्...चित्...आनंद...।

[जीवात्मा का प्रस्थान।]

प्र०—[सोचते हुए] आज मेरे मन्वतर का अंतिम दिन है। मैं चाहता हूँ कि दूसरे प्रजापति के आने के पूर्व मैं भू-मंडल में पुरुष, स्त्री की सृष्टि कर दूँ। मैं गतिशीलता में प्राण भरना चाहता हूँ। मैं पुष्प में सुगंधि भरना चाहता हूँ। अधकार का विनाश मेरे जीवन का उद्देश्य होगा। हाँ...अंधकार का विनाश।

पिता के पापाचार की स्मृति-रेखा का काला चिह्न उज्ज्वलता में लीन होकर मार्तंड की भाँति चमकने लगे।

[दरवाज़े पर शब्द।]

प्र०—कौन ? [स्मरण कर] ओह, विद्याधर की आत्मा ? मेरे अभिशाप की पूर्ति ! [ज़ोर से] आओ।

[विद्याधर की आत्मा का प्रवेश।]

प्र०—तुम कहाँ से आ रहे हो ?

जी०—जागृति के अथाह सागर से।

प्र०—[व्यंग्य से] नदन कुज से नहीं ? देखो वत्स, क्या तुम ऐसी लहर बनना चाहते हो जिसमें किसी इद्रधनुष का प्रतिबिंब पडे ?

जी०—[आश्चर्य से] कैसे इद्रधनुष का ?

प्र०—भू-मंडल में प्रेम का।

जी०—प्रेम क्या ?

प्र०—[हँस कर] ओह, प्रेम ? उससे लोग दिन में हँसते और रात में रोते हैं।

जी०—[आश्चर्य से] रात में रोते हैं ?

प्र०—हाँ, भू-मडल में दो प्रकार के व्यक्ति होंगे। भू-मंडल जानते हो, कहाँ है ?

जी०—कहाँ है ?

प्र०—देखो, उस सौर मडल में। किंतु तुम चिंता मत करो। मैं तुम्हें वहाँ अभी पहुँचा दूँगा।

जी०—बहुत अच्छा।

प्र०—मैं प्रजापति हूँ। मैं तुम्हें वहाँ अभी भेजूँगा। स्त्री बना कर। हाँ, उस भू-मडल में दो प्रकार के व्यक्ति होगे। एक का नाम है पुरुष, दूसरे का स्त्री। कभी पुरुष कठोर और स्त्री कोमल और कभी स्त्री कठोर और पुरुष कोमल!

जी०—दोनों कोमल नहीं होते?

प्र०—होते हैं किंतु दोनों की कोमलता का अर्थ प्रेम न होकर विवाह होता है। स्त्री को पुरुष के लिए कोमल बनना पड़ता है और पुरुष को स्त्री के लिए। इसी आत्म-बलिदान का नाम 'विवाह' है।

जी०—विवाह?

प्र०—हाँ, विवाह और प्रेम मे अतर है। विवाह कहते हैं ऐसी हँसी को जिसमें रोना छिपा रहता है और प्रेम कहते हैं ऐसे रोने को जिसमें हँसी छिपी रहती है। संसार के लोग प्रायः ऐसे रोने को विशेष पसंद करेंगे जिसमें हँसी छिपी रहती है।

जी०—और जो लोग रोना और हँसना नहीं जानते वे लोग?

प्र०—ऐसे लोग पत्थर की तरह होंगे। कोई ठोकर मार दे तो ठीक है, कोई ईश्वर बना कर पूज ले तो ठीक है। संसार के लोगों के लिए रोना और हँसना आवश्यक है।

जी०—आवश्यक है?

प्र०——हाँ, अन्यथा वे लोग संसार छोड दे। बहुत से ज्ञानी लोग रोना और हँसना छोड कर वन में प्रवेश करेंगे किंतु ऐसा करने से वे 'मनुष्य' नहीं रहेंगे। वे हो जावेंगे वन के पेड, पहाड़ के पत्थर।

जी०——मैं क्या करूँगा ?

प्र०——तुम ? तुम स्त्री बन कर पहले तो रोना सीखोगे। बाद में तुम्हें रोने को ही हँसी बनाना होगा। मैं चाहता हूँ कि तुम स्त्री होकर भी देवी बनो। पतिव्रता होना सीखो!

जी०——पतिव्रता क्या ?

प्र०——विवाह में मिले हुए पति की छाया में समा जाना होगा। उसके कॉटों को गूँथ कर कहो कि यह कमल की माला है। उसके चरणों का नाम हो तुम्हारा मस्तक। उसकी अंधी आँख तुम्हारी दृष्टि हो, उसका लॅगड़ा पैर तुम्हारी गति हो। उसके बधिर कान तुम्हारी श्रवण-शक्ति हों। उसकी दीनता तुम्हारी सपत्ति हो। और वत्स, उसकी विरह रात्रि में मिलन का प्रभात झॉकता हो।

जी०——विरह-रात्रि किसे कहते हैं, प्रजापति ?

प्र०——विरह-रात्रि ? ओह, विरह-रात्रि उसे कहते हैं जिसमें तारों में अंगार के अकुर निकलते है, चद्रमा एक ज्वालामुखी का मुख दीख पडता है और कली के विकास मे तीर खिलता है; सुगधि चुपचाप आकर डस लेती है।

जी०—तो वहाँ मैं नहीं जाऊँगा। प्रजापति !

प्र०—अनुभव प्राप्त करो, वत्स। सुगंधि से डसे जाने पर यहाँ के कल्पवृक्ष में तुम्हे सच्ची शाति मिलेगी। चंद्रमा अपने अमृत से तुम्हारे पैर धो देगा।

जी०—सचमुच !

प्र०—निस्सदेह।

जी०—अच्छा, तब चला जाऊँगा। किंतु मैं किस प्रकार वहाँ पहुँचूँ ?

प्र०—सोकर। तुम जाग कर वहाँ नहीं पहुँच सकते। तुम्हें सोना ही होगा। वेश बदल कर तुम वहाँ जाओगे—सोते हुए। तभी तुम वहाँ के अनुभव प्राप्त करोगे। अपनी नींद में स्वप्न की भाँति।

जी०—फिर जागूँगा कैसे ?

प्र०—विश्वात्मा की इच्छा से। इस नींद को भू-मडल में जीवन कहते हैं !

जी०—[आश्चर्य से] जीवन कहते हैं ! बड़े विचित्र व्यक्ति हैं वहाँ के ! तब तो सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य कहने वाले ही व्यक्ति वहाँ होंगे ?

प्र०—तभी तो तुम्हारे अनुभव यहाँ से भिन्न होंगे। तुम यहाँ के अनुभवों से भिन्न नवीन अनुभव प्राप्त करोगे।

जी०—[सोचते हुए] नींद को कहते हैं जीवन ! आनद

को कहते होंगे पीडा। और प्रकाश को कहते होंगे अधकार !

प्र०---हाँ, अधकार। तुमने अच्छा स्मरण दिलाया। तुम्हें वहाँ अधकार का नाश करना होगा।

जी०---कैसे अधकार का ?

प्र०---वह अंधकार जो पाप से उत्पन्न है। जिसके तामसी रहस्य में पाप के विकास की सीमाएँ बहुत दूर तक फैल जाती हैं।

जी०---किस प्रकार नाश करूँगा ?

प्र०---अपने मस्तिष्क की शक्ति से। अंधकार को प्रकाश मे परिवर्तित करना होगा। मैं तुम्हे स्त्री का रूप दूँगा। ऐसी स्त्री जो अपने क्रोड में ज्वालामुखी की शक्ति से जीवित रहेगी। वह चाहेगी तो आग मे जल की शीतलता उत्पन्न करेगी और यदि चाहेगी तो जल की शीतलता में आग उत्पन्न करेगी।

जी०---उसे प्रेम करने का अधिकार तो होगा ही ? आपने अभी कहा था।

प्र०---सब से अधिक। किंतु वह अपने प्रेम को भाषा में प्रकट न कर सकेगी। एक मुस्कान और दो आँसू ही उसके प्रेम की भाषा होगी। प्रेम की आशा मे मौन और प्रेम की निराशा में भी मौन। लेकिन इस प्रेम की निराशा में उसका जीवन आँसू बन कर बहेगा। इस आकाश गंगा की भाँति। करुण किंतु शब्दहीन !

जी०---मैं ऐसे प्रेम को निबाह सकूँगा ?

प्र०—यदि आत्म-हत्या या प्राणदंड से बचे रहे तो।

जी०—अच्छा, तो अब जाऊँ ? आपकी आज्ञा है ?

प्र०—सत्, चित्, आनद !

[जीवात्मा का प्रस्थान।]

प्र०—[पुकार कर] माया ! [माया का प्रवेश।]

प्र०—माया ! मैंने विद्याधर को स्त्री और मेनका को पुरुष बना कर ससार में भेज दिया है। इनके द्वारा मैं अंधकार का नाश करूँगा। प्रतिभा, मेधा और वाक्शक्ति से अज्ञान एक क्षण में नष्ट हो जायगा।

मा०—प्रभु, अधकार का रहना आवश्यक है।

प्र०—क्यों ?

मा०—अंधकार में ही मेरा निर्माण-कार्य होगा। रात को कली सोयेगी, अंधकार के बाद वह फूल बन कर उठेगी। संध्या समय वृद्ध सूर्य अस्त होकर अंधकार के बाद बाल-रवि होकर तेज-संपन्न होगा। अंधकार के भीतर ही चंद्र के शीश पर कला का अभिषेक होगा या प्रेमी की भाँति वह कला-हीन होगा। अंधकार में ही स्वप्न होंगे और उन स्वप्नों में ही व्रीडा की उषा में स्नात मौन निमत्रण साकार होगा। प्रतीक्षा के वृत पर मिलन का फूल धीरे से अपनी पंखुड़ी में पराग-रेखा का बाहु-पाश बनायेगा। ज्योत्स्ना में उमंगों के हिंदोल पर कितने हृदयों की ध्वनि प्रेम का वृत्त बनायेगी ! प्रभु, अधकार का रहना

आवश्यक है ! अधकार तो जैसे प्रकृति का विश्राम होगा ।

प्र०—विश्राम !

मा०—हाँ प्रभु, विश्राम ही में रहस्य का निर्माण होता है । फिर एक बात और भी है । यौवन का विकास छिप कर होता है । यदि वह प्रकाश में नेत्रों के सामने हो तो उसका सारा रहस्य, सारा कौतूहल, सारा आकर्षण वैसा ही हो जायगा जैसे किरणो का स्पष्ट रूप से बढ़ता हुआ उत्ताप । तब वह यौवन किरणों की भाँति गरम होकर सारी पृथ्वी को झुलसा देगा । उसमे अनुराग के उभार की कोमल उष्णता न रहेगी ।

प्र०—माया, मैं इस यौवन से ही ससार को जलाना चाहता हूँ । इस तरह जलाऊँ कि ससार एक जलता हुआ अगार बना रहे और उसकी उन विनाशकारी किरणों से अधकार प्रकाश में परिवर्तित हो जाय ।

मा०—जैसी आज्ञा प्रभु, किंतु जिस प्रकार उज्ज्वल फूल के विकास के लिए काली मिट्टी की आवश्यकता है, पुण्य के विकास के लिए पाप की पृष्ठभूमि है, उसी प्रकार प्रकाश के विकास के लिए अंधकार की भूमि भी चाहिए ।

प्र०—ठीक है, किंतु मेरा निर्णय ऐसा नहीं होगा । जाओ, सप्तर्षियों से कहना कि वे एक क्षण को मुझे दर्शन दें ।

मा०—जो आज्ञा । [जाती है किंतु रुक कर] किंतु प्रभु सप्तर्षि धर्म की व्यवस्था के सिद्धात सोच रहे हैं । केवल कश्यप

समाधि से जागे हैं। वे अपनी धर्मपत्नी अदिति की उदासी दूर करने की चेष्टा मे हैं।

प्र०—अच्छा! कश्यप से कहना कि भगवान के अवतार से अदिति की उदासी दूर होगी। और सप्तर्षि इतनी शीघ्रता से मेरी आज्ञा के पालन में प्रवृत्त हो गए?

मा०—आपकी आज्ञा प्रमाण है, प्रभु!

प्र०—अच्छा, मेरे पुत्र कश्यप ही को भेजो।

मा०—जो आज्ञा।

प्र०—अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गोतम, जमदग्नि, और भरद्वाज! तुम धर्म की व्यवस्था करो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। ऐसा धर्म बनाऊँगा जिससे अंधकार कहीं रहेगा भी नहीं। वत्स कश्यप, तुम मेरे सहयोगी बनो।

[द्वार पर शब्द होता है।]

प्र०—वत्स कश्यप, चले आओ।

[कश्यप का प्रवेश। ऊँचा क़द। कमल के समान आँखें। सिर पर लंबी जटाएँ। वल्कल वस्त्र। बिना खरादी हुई मणि के सदृश रूखे शरीर में कांति। कुश और कास का लिपटा हुआ आसन कक्ष-भाग में दबा हुआ है। वे उसी भाँति प्रवेश करते हैं जैसे लकड़ियों के संघर्ष से आग उत्पन्न होती है।]

प्र०—वत्स कश्यप, क्या कर रहे थे?

क०—अग्निहोत्र शाला में हवन कर......

प्र०—मैं जानता हूँ। अदिति को पुत्र की इच्छा है। स्वय ब्रह्म उनमें अवतार लेंगे। किंतु कश्यप, तुम जानते हो—मेरी ही आज्ञा से पवन चलता है, सूर्य तपता है, मेघ बरसते हैं, आग जलती है। मैं प्रजापति हूँ। मैंने अपनी शक्ति से स्त्री और पुरुष का निर्माण किया है। क्या पुरुष और स्त्री मेरे भय से अंधकार का नाश नहीं करेंगे? मैं इस समय ब्रह्म की शक्ति का प्रतीक हूँ। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश महाभूतों के साथ मैंने गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का निर्माण किया है। क्या ये विषय पुरुष और स्त्री के लिए पर्याप्त न होंगे?

क०—क्या आपने स्त्री और पुरुष का निर्माण कर दिया है?

प्र०—कुछ क्षण पहले। अपने मन्वतर में नवीन ढग से।

क०—पितृदेव, स्त्री और पुरुष की सृष्टि अपूर्ण हुई!

प्र०—[भौंहे सिकोड़ कर] क्यों?

क०—क्योंकि वे प्रलय के अधकार मे समा जायँगे।

प्र०—किंतु स्त्री और पुरुष के निर्माण के बाद अंधकार रह कैसे सकेगा?

क०—यक्षों और राक्षसों के पालनार्थ प्रभु! रात्रि यक्षो और राक्षसों की है। उन्हीं की भूख-प्यास अधकार मे शांत होती है। यक्षों और राक्षसों के जीवन के लिए अधकार आवश्यक है।

प्र०—ठीक है कश्यप, किंतु......

क०—प्रभु, देवताओं की सात्विक भावनाओं के साथ राक्षसों की तामसिक भावनाएँ भी रहेंगी। ब्रह्म तो सबका पालन करते हैं और इसी प्रकार सृष्टि को सतुलित करते हैं।

प्र०—तुम भी अंधकार का पक्ष ग्रहण करते हो कश्यप! तुम कच्छप रूप से उत्पन्न हुए थे। अतः तुम्हें भी अपने पूर्व स्वभाव से अंधकार और कच्छप का काला रग अच्छा लगता है।

क०—प्रभु, मुझे तो सभी रंग अच्छे लगते हैं। सब रंगो में प्रभु की काति है। किंतु यह सोचिए प्रभु, यदि अधकार न होगा तो पुरुष और देवताओं में अतर ही क्या रह जायगा? [एकाएक चौंक कर] प्रभु, यह क्या! अरे, यह परिवर्तन कैसा!

प्र०—कश्यप, कुछ मत कहो, मैं जानता हूँ।

क०—किंतु प्रभु, अब आपकी नवीन सृष्टि क्या होगी? आप उसे कार्यशील होते हुए देख भी नहीं सके। प्रभु!

प्र०—मुझे चिंता नहीं है, कश्यप!

क०—प्रभु, आपका हीरक-पदिक धूमिल दीख रहा है। आप दुर्बल होते जा रहे हैं। आपका मन्वतर समाप्त हो गया, ज्ञात होता है।

प्र०—हाँ, मन्वतर समाप्त हो गया। इसीलिए प्रजापति का यह चिह्न धूमिल होता जा रहा है। [कंठ का हीरक-पदिक दिखलाते हैं।]

क०—इसी के मलीन होने से आप क्षीण होते जा रहे हैं।

[कुछ प्रकाश बुझ जाता है।] आपकी शक्ति शेष होती जा रही है। आपके कक्ष में अधकार होता जा रहा है।

प्र०—कश्यप, मैं अब मन्वंतर की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाऊँगा। यही इच्छा थी कि मैं पुरुष और स्त्री के निर्माण का परिणाम देख लेता किंतु मुझे चिंता नहीं है। परिणाम कुछ भी हो, मेरी सृष्टि का इतिहास तो सुरक्षित रहेगा ही। [शिथिल स्वर में] कश्यप, अब मैं शेष हो रहा हूँ ! [और अंधकार हो जाता है।]

क०—पिताजी, कहाँ आप अधकार का नाश करना चाहते थे और कहाँ आप स्वयं अंधकार में लीन होने जा रहे हैं !

प्र०—[शिथिल स्वर में] विश्वगुरु की इच्छा !

क०—मैं विश्वगुरु को इसकी सूचना दूँ ?

प्र०—वे जानते हैं कि मैं समाप्त हो रहा हूँ।

क०—मैं अपने सहयोगी अन्य छः ऋषियों को सूचित करूँ कि वे आपका स्तवन करें। मैं स्वयं उनमें सम्मिलित होऊँगा।

[नेपथ्य में भयानक कोलाहल होता है।]

क०—यह क्या ?

प्र०—अधकार का आगमन ! [कुछ प्रकाश और बुझ जाता है।]

क०—ओह, मैं आपकी शाति के लिए स्तवन करने जाऊँ ! प्रणाम, प्रभु !

[प्रजापति प्रणाम स्वीकार करते हैं। कश्यप का प्रस्थान।]

प्र०—[विकृत स्वर मे] अधकार...अधकार...विश्वगुरु, तुमने अपने पाप को जीवित रक्खा ! क्या महापुरुषों का पाप भी पुण्य हो जाता है ?

[नेपथ्य मे फिर भयानक शब्द । विद्याधर और मेनका का जीव रूप मे प्रवेश ।]

मे०—[कर्कश स्वर में] प्रजापति, तीस वर्षों में मैंने अनुभव किया कि तुम्हारे अस्तित्व की भावना मनुष्य की सब से बड़ी दुर्बलता है । तुम्हारा धर्म जीवन का विष है, वही धर्म जीवन का सबसे बड़ा अधकार है ।

वि०—[कर्कश स्वर में] प्रजापति, प्रेम हो नहीं सकता यदि वासना न हो । बिना शरीर की आसक्ति के प्रेम ककालवत् ऋषियो की असफल वासना है । प्रेम में चुंबन है और चुंबन में प्रेम । तुम पतिव्रता के मन और शरीर दोनों को बॉधना चाहते हो ? अधकार फैलाऊँगी, प्रजापति ।

प्र०—[शांति से] तुम दोनों ससार के सस्कारों से भरे हुए हो । पवित्र बनो ।

मे०—[ज़ोर से] मैं तुम्हारा नाश करूँगा । मैंने आत्म-हत्या की है । [वक्र-दृष्टि ।]

वि०—[ज़ोर से] मैं तुम्हारा नाश करूँगी । मैंने प्राण-दंड पाया है । [क्रोध दृष्टि ।]

प्र०—[शांति से] मैं स्वय समाप्त होने जा रहा हूँ, विद्या-

धर ! मैं स्वय नष्ट हो रहा हूँ, मेनका ! (पुकार कर) माया !

[माया का प्रवेश ।]

मा०—आज्ञा प्रभु, मैं केवल बारह क्षणों तक ही आपकी आज्ञाकारिणी हूँ ।

प्र०—[आदेश-स्वर किंतु क्षीण] इसी काल में मेनका और विद्याधर की आत्माओं को पवित्र करो और अपना प्रभाव इन पर से हटा लो ।

मा०—जो आज्ञा ।

[माया मेनका और विद्याधर की ओर देखती है । दोनों के श्याम आच्छादन गिर जाते हैं । उनके गिरते ही माया चली जाती है । विद्याधर और मेनका पूर्ववत् हो जाते हैं ।]

प्र०—विद्याधर !

वि०—[हाथ जोड़ कर] प्रभु प्रजापति को प्रणाम ।

प्र०—मेनका !

मे०—[हाथ जोड़ कर] प्रभु प्रजापति का अभिनदन ।

प्र०—विद्याधर और मेनका ! अब तुम दोनो एक दूसरे से प्रेम कर सकते हो ।

मे० और वि०—[परस्पर देख कर] प्रभु की कृपा ।

प्र०—[क्रमशः क्षीण होते हुए स्वर में] विद्याधर, मेरी सृष्टि अपूर्ण रही ! मेनका, मैंने पुरुष और स्त्री के निर्माण की कल्पना व्यर्थ की । विश्वगुरु की कथा की भाँति मेरी भी यह

पाप-कथा अमर रहेगी ! विद्याधर ! [लड़खड़ाते हैं ।] मेनका ! [सँभलते हुए] मेरे विनाश में आज पुरुष और स्त्री की सृष्टि अमर हो !

[प्रजापति गिरते हुए सिंहासन का सहारा लेते हैं । क्षीण प्रकाश रह जाता है ।]

वि०—ओह, प्रजापति ! [दौड़ कर प्रजापति को सँभालता है ।]

मे०—[स्तंभित स्वर में] अ...घ...का...र...!

[परदा गिरता है ।]

हमारे प्रकाशन

१. गांधीवाद की रूपरेखा १)
२. योग के चमत्कार १।)
३. घर की रानी १)
४. आनन्द-निकेतन २)
५. भक्ति-तरंगिणी १)
६. अहंवादी की आत्मकथा १)
७. चारुमित्रा २)
८. शृंखला की कड़ियाँ १॥)
९. हमारे नेता १॥)

न केवल आलमारियों की शोभा हैं
बल्कि
जीवन को शक्ति और
प्रकाश देने वाले हैं।

साधना-सदन,
लूकरगंज, प्रयाग या किंग्सवे, दिल्ली
को लिखिए

गांधीवाद की रूप-रेखा

[लेखक—श्रीरामनाथ 'सुमन']

गाधीजी उस सूर्य के समान हैं जिससे सब प्रकाश लेते हैं, उस वायु के समान हैं जिसमे सब साँस लेते है। जवाहर-लालजी ने ठीक ही कहा है कि वह भारतीय भावना के थर्मामीटर हैं। इस पुस्तक में विस्तार से उनके सिद्धान्तो पर विचार किया गया है। गाधीवाद और समाजवाद की विस्तृत तुलना इसमें है। इसी पुस्तक पर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से लेखक को पाँच सौ रुपयों का मुरारका-पारितोषिक मिला है। प्रसिद्ध विचारकों एवं पत्रो द्वारा प्रशसित। मूल्य १)

२. योग के चमत्कार

[लेखक—श्रीरामनाथ 'सुमन']

योग की संभावनाओं के विषय में मनोरंजक पुस्तक। मूल्य १।)

नोट—नं० १ और २ समाप्त हैं और नया संस्करण होने पर ही मिलेंगी।

३. घर की रानी

[लेखक—श्रीरामनाथ 'सुमन']

कुमारियों और विवाहिता स्त्रियों के जीवन को सफल और सुखी बनाने के व्यावहारिक उपाय बतानेवाली अत्यन्त

मनोरजक पुस्तक। पत्रों के रूप में छपी हुई है। प्रत्येक कन्या और स्त्री के हाथ में देने योग्य। मूल्य एक रुपया।

४. आनन्द-निकेतन

[लेखक—श्रीरामनाथ 'सुमन']

हाहाकार-भरी गृहस्थियों को स्वर्ग बनानेवाली पुस्तक। प्रत्येक युवक, युवती, बहन-भाई के पढ़ने योग्य। जीवन को बल और प्रकाश देने वाली, फिर भी उपन्यास-सी मनोरजक। लगभग साढ़े तीन सौ पृष्ठ, सुन्दर कवर। मूल्य दो रुपये।

५. भक्ति-तरंगिणी

[संग्रहकर्त्ता—श्रीकेशवदेव शर्मा]

इसमें प्राचीन काल से लेकर आज तक के १०० कवियों की भक्तिभावपूर्ण श्रेष्ठ कविताओं का सग्रह किया गया है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें एक भी कविता ऐसी नहीं है जिसमें सुरुचि का अभाव वा अश्लीलता या गदी शृंगारिकता की गन्ध हो। मूल्य : एक रुपया।

६. अहंवादी की आत्मकथा

रूस के प्रसिद्ध उपन्यासकार डास्टावेस्की के एक प्रसिद्ध उपन्यास का हिंदी के प्रतिष्ठित उपन्यास और कहानी-लेखक श्री इलाचंद्र जोशी का किया हुआ अनुवाद। उच्चकोटि का मनोवैज्ञानिक उपन्यास। मूल्य : एक रुपया।

७. चारुमित्रा

[लेखक—डा० रामकुमार वर्मा एम० ए०, पी० एच० डी०]

हिंदी के प्रतिष्ठित कवि और एकांकी नाटककार वर्माजी के सर्वश्रेष्ठ, मौलिक और नवीन एकांकी नाटकों का संग्रह। पुस्तक आपके हाथ में ही है। मूल्य : दो रुपये।

८. शृंखला की कड़ियाँ

[लेखिका—श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए०]

नारी की स्थिति, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, मानसिक अन्तर्द्वंद्व, कठिनाइयों और समस्याओं का विचारपूर्ण विवेचन। एक जाग्रत नारी के द्वारा नारी की स्थिति और दशा का अवलोकन। ३२ पौंड एँटिक पेपर, सजिल्द, सुन्दर कवरयुक्त। मूल्य : डेढ़ रुपये।

९. हमारे नेता

[लेखक—श्रीरामनाथ 'सुमन']

महात्मा गांधी, सरदार पटेल, सरोजिनी नायडू, राजगोपालाचार्य, राजेंद्रप्रसाद, मौलाना आज़ाद और जवाहरलाल के जीवन के मार्मिक अध्ययन एवं शब्द-चित्र। सुन्दर कवर। मूल्य : डेढ़ रुपये।